वर्ष ४, अंक 1 जनवरी 1992

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
रा.प्र.पांडेय, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

संपादन-सहयोगी

1. **प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे,** 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. **प्रोफेसर दयाकृष्ण**, आर. 9, राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर, जयपुर-4
3. **प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद पांडेय**, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर।
4. **डॉ. रमेशचन्द्र शाह**, एफ 3/2, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल-462002
5. **अशोक वाजपेयी**, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली-110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी. 51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015
2. **डॉ. मुकुन्द लाठ,** ए. 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष और गर्व का अनुभव होता है कि **उन्मीलन** के प्रकाशान का आर्थिक दायित्व **लाठ सर्वोदय ट्रस्ट** ने ले लिया है।

धर्म-संकट*

मुकुन्द लाठ

मीमांसा की युक्ति में गहराई हो पर वहां धर्म का स्वरूप बड़ा संकीर्ण है। कर्म को मनुष्य के जीवन और आचरण के बृहत् प्रांगण से निकाल कर कर्मकाण्ड के छोटे से घेरे में बांध दिया गया है। जैसे कर्म बस एक अनुष्ठान हो। यज्ञ का अनुष्ठान। अन्य कर्मों का भी कुछ विधान है पर एक तो इनका वलय यज्ञ करने वाले गृहस्थ के अन्य कर्म तक सीमित-सा है और फिर ये कर्मकाण्ड के अंग-से ठहरा दिये गये हैं। यज्ञ के आनुषंगिक। मनुष्य का एक-दूसरे के प्रति आचरण, व्यवहार क्या हो, व्यक्ति के जीवन का, समाज के कर्म का, कर्म की व्यवस्था का औचित्य क्या हो – धर्म के ये मार्मिक प्रश्न वहां प्रश्न ही नहीं हैं। यह सम्भव था कि यज्ञ की धारणा को ही व्यापक रूप दिया जाता – हम जो कुछ करते हैं सब यज्ञ है। गीता में यह बात बहुत उभर कर आई भी है। पर मीमांसा की मनीषा के लिये यह पराई है। गीता को तो चलिये बाद का ग्रंथ ठहराया जा सकता है, और माना जा सकता है कि गीता जब तक हमारे मानस पर छाई तब तक मीमांसा की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि इतनी जड़ पकड़ चुकी थी कि गीता का प्रभाव उस पर कम ही पड़ा। पड़ा भी तो मीमांसक ने गीता को अपने ही सांचे में ढाल कर देखा। पर गीता बाद की रचना हो सकती है, वेद तो बाद के नहीं हैं। वेद की ही मीमांसा करते हुए मीमांसा अपने को मीमांसा कहती है। वेद के अन्तर्गत भी ब्राह्मण मीमांसा के प्राण और प्रमाण हैं। वहां भी यज्ञ किया कैसे जाये, दुविधा में यह प्रश्न बार बार उठता है और उत्तर को 'मीमांसा' का ही नाम दिया गया है : 'अत्र मीमांसते', यह वाक्य जैमिनीय ब्राह्मण के कई प्रसंगों में आया है। ब्राह्मणों में यज्ञ-क्रिया का वर्णन मिलता है। इन्हीं का परिष्कार करना परवर्ती मीमांसा भी अपना काम समझती है। इन वर्णनों में जो परस्पर विरोध है, असंगतियां हैं, उनके समाधान का, समन्वय का बीड़ा मीमांसा ने उठाया है और इसमें वह अपने-आप को प्रमाण मानती है। मीमांसा में जो और विचार हैं, दर्शन का जो अपना अलग मार्ग है, वह समाधान, समन्वय के इस प्रधान कर्म का ही पसारा है। पर ब्राह्मणों में यज्ञकर्म का ही वर्णन नहीं है यज्ञ के मर्म पर भी अपनी तरह का विचार है जिसका प्रकाश प्रतीक, लक्षणा या व्यंजना की भाषा में हुआ हो पर इस विचार का तात्पर्य इतना ओझल सा भी नहीं होता कि कुछ पकड़ में ही न आ सके। मीमांसा यज्ञ को देवता के नाम पर द्रव्य-त्याग कहती है। द्रव्य का त्याग अग्नि में करने का विधान है और जिन

* गतांक से आगे

द्रव्यों के त्याग का विधान है वे ऐसे ही द्रव्य हैं जिन्हें हम आम भाषा में द्रव्य कह सकें। खाने-पीने के आठ पहर के उपयोग के द्रव्य, जैसे घी दूध जौ पानी . . .। कौन सा द्रव्य कब कैसे किस यज्ञ में त्याग के काम आयेगा, इसका ब्राह्मणों में विधान है और ऐसे ही विधानों की मीमांसा मीमांसक करते हैं।

पर जैमिनीय ब्राह्मण का पहला ही वाक्य लीजिये – ब्राह्मण पीछे का भी नहीं बहुत प्राचीन माना जाता है। दूसरे ब्राह्मणों की तरह इस ब्राह्मण में भी यज्ञ का वर्णन है। ब्राह्मण का पहला ही वाक्य 'द्रव्य' और उसके 'त्याग' के बारे में है – प्रसंग अग्निहोत्र का है जो 'नित्य' यज्ञ माना जाता है, अधिकारी गृहस्थ मात्र के लिये नित्य प्रति आवश्यक-करणीय : तद् आहुः केन जुहोति कस्मिन् हूयत इति। प्राणेनैव जुहोति प्राणे हूयते। – "पूछा जाता है कि आहुति किस से दी जाती है और किस में दी जाती है। आहुति प्राण की दी जाती है, प्राण में ही दी जाती है।" आगे बात को समझाते हुए ब्राह्मण यज्ञ को एक गम्भीरतर सृष्टि और जीवन-कर्म के प्रतीक के रूप में लेता है : "याज्ञिक अरणि का मंथन करता हुआ अग्नि का समिन्धन करता है – यों यजमान के प्राणों को जन्म देता है। अरणि जल कर भस्म रह जाती है। यह उसके (यजमान के) अन्न का उपजना है। इस (भस्म ने) मेरा अन्न उत्पन्न किया, यों जानना चाहिये। अन्न (की आहुति) से धूम उत्पन्न होता है। यह (यजमान के) मन की उत्पत्ति है। इस से मेरा मन उत्पन्न हुआ, यों जानना चाहिये। अंगारे बन जाते हैं। इस से (यजमान की) चक्षु उत्पन्न होती है। इस से मेरी चक्षु उत्पन्न हुई, यों जानना चाहिये। यह अंगार भस्म के ढेर का ग्रास करता है। जैसे शिशु जन्म लेकर स्तन की ओर बढ़ता है यों तिरछा ऊपर की ओर उठता है। यह (यजमान के) श्रोत्र की ही उत्पत्ति है। इस से मेरा श्रोत्र उत्पन्न हुआ, यों जानना चाहिये। प्रभा उद्दीप्त होती है। यह (यजमान की) वाक् का ही उत्पन्न होना है। यह मेरी वाक् उत्पन्न हुई, यों जानना चाहिये। (यों) वह पांच प्राणों को जन्म देता है। उन को तीन (अग्नियों) में सजा कर (उन्हें) देवता बनाये, उन में आहुति देता रहे। देवता ही उस के देवता हो जाते हैं। वे ही उसके देवता होते हैं जिन में आहुति देता रहता है। इसीलिये यह जो कहा जाता है : किस की आहुति देता है, किस में आहुति देता है, (तो) प्राणों की ही प्राणों में आहुति देता है। इस अन्न की प्राण में आहुति देता है। अन्न की कामना करता हुआ वह इन प्राणों की पुष्टि करता है, उन में आहुति देता रहता है। यह जो हवि है यही ब्राह्मण का स्वर (उस का स्वर्ग, उस की चरम आहुति) है। (इस आहुति को) वह आत्म में डालता है, इन अमृतमय प्राणों में। उसकी आत्मा में यों दी गई (आहुति) का नाप-तौल नहीं होता (न प्रमीयते)।

जब मन उत्क्रमण करता है, जब प्राण (उत्क्रमण करता है), जब श्रोत्र, वाक् (ये उत्क्रमण करते हैं), इन अग्नियों की ओर ही बढ़ते हैं। इस शरीर को इन अग्नियों में फिर से बींध देते हैं। (मन्त्र है) : इस से तुम्हारा जन्म हुआ है, तुम से इस का जन्म हो, स्वाहा। यों वह आहुतिमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, वाक्-मय, ऋक्-मय, यजुर्मय, साममय,

ब्रह्ममय, हिरण्मय, अमृत हो जाता है। उसके प्राण अमृत हो जाते हैं। शरीर को अमृत करते हैं। वह अमृत को प्राप्त होता है जो यों जानता हुआ अग्निहोत्र करता है।" (जैमिनीय ब्राह्मण, आचार्य रघुवीर और लोकेशचन्द्र संपादित, विक्रमाब्द 2011, प्रथम काण्ड का पहला अनुवाक्, पृष्ठ, 1-2)।

यहां यज्ञ की धारणा में एक सर्वांगीण, जीवन-में-सर्वव्याप्त भाव है जिसकी छाया भी मीमांसा में कहीं दिखाई नहीं देती। माना कि ऐसे प्रतीक-और-ध्वनिमय प्रसंगों का अर्थ करना दूभर होता है – दृष्टि की ठोस, बात-बिल्कुल-हाथ-में-आ-गई, ऐसी पकड़ के बाहर ही रहता है। पर ठोस को ही हाथ में थमाना हो तो मीमांसा का फिर काम ही क्या है? ठोस वह ठोस ही क्या जो अपने आप ही दृष्टि को घेर कर खड़ा न हो जाये। और फिर यह भी देखिये कि कोई भी मीमांसा एक बार शुरू हो ले तो फिर ठोस से ठोस बात को विचार की हवा में उड़ते देर कहां लगती है – यह बात भी किसी मीमांसक से छुपी नहीं रहती। बात ठोस और बेठोस की नहीं, प्रवृत्ति और प्रेरणा की बात है। हमारी प्रवृत्तियां अगर स्थूल हैं तो सूक्ष्म भी हैं। और फिर जहां बात ही यह हो रही है कि प्रवृत्ति क्या हो, उसका औचित्य क्या है, वहां मनुष्य की सूक्ष्म वृत्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रश्न ही सूक्ष्म की ओर ले जाता है। मीमांसा सूक्ष्म से कतराती है। अभी हमने जैसे प्रसंग की चर्चा की उसके बारे में मीमांसा का पैंतरा यह होता है कि ऐसे प्रसंगों को 'अर्थवाद' कह देते हैं – कहतें हैं कि ऐसी बातों का यज्ञ के वास्तव, 'ठोस' स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, इन से यज्ञ कैसे किया जाये इस का कोई विधि-निषेध सामने नहीं आता; ये सुनने में बड़ी सार्थक सी लगती हों पर इन का अर्थ करो तो बातों के जंजाल के सिवा मुट्ठी में कुछ नहीं बचता। ये बातें लुभाती हैं – और बस यही इन का काम है। यज्ञ को लुभाना रूप दे कर ये हमें यज्ञ की ओर प्रवृत्त कर देती हैं। पर यज्ञ क्या है, कैसे होता है, इस का उत्तर ऐसे अर्थवादों में नहीं, वेद में अन्यत्र मिलता है जहां ठोस, पकड़-में-आने वाले द्रव्य और उसके त्याग के ठोस, किये-जा-सकने वाले तरीके बताये गये हैं।

पर मीमांसा न सही, ऐसे प्रसंगों पर हम तो विचार कर ही सकते हैं। इसमें निहित अर्थ का हम अपना-सा विस्तार कर सकते हैं। ऐसा भी नहीं कि ऐसे विस्तार का परम्परा में आदर नहीं। आदर न होता तो उपनिषद् और गीता का भी आदर न होता। पर प्रसंग पर विचार करने से पहले इस के कुछ ही बाद आने वाला, इसी के भाव को आगे बढ़ाने वाला एक प्रसंग और आपके आगे रखता हूं। यह प्रसंग 'मीमांसा' का ही है, हालांकि 'अत्र मीमांसते' जैसा कोई वाक्य यहां नहीं आया है।

"जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा : अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्क्य? जानता हूं, याज्ञवल्क्य ने कहा। क्या है ? दूध है। पर दूध न हो तो किस से आहुति दी जाये? जौ और धान से। जौ और धान न हों तो किस से आहुति दी जाये? किसी और अन्न से। कोई और अन्न न हो तो किस से आहुति दी जाये? अरण्य की उपज से। अरण्य

की उपज न हो तो किस से आहुति दी जाये? पानी से। पानी न हो तो किस से आहुति दी जाये? अगर यहां आहुति देने के लिये कुछ भी न हो तो सत्य की श्रद्धा में आहुति दें। (जनक ने) कहा : तुम अग्निहोत्र जानते हो याज्ञवल्क्य। तुम्हें नमस्कार है। भगवन्, सहस्र तुम्हें दूंगा।" (जैमिनीय ब्राह्मण, वही, 1, 19, पृष्ठ 10)।

पहले प्रसंग में जीवन को ही यज्ञ समझा गया है। प्राण-धारण यज्ञ-मय है। या यों कहना चाहिये कि हो सकता है। ब्राह्मण की बात में एक ओर यह ध्वनि है कि प्राण-धारण प्रकृति की क्रिया से अपने-आप ही होता है, इसमें 'करने' की कोई बात नहीं। पर यही क्रिया यज्ञ बनाई जा सकती है। ब्राह्मण कहता है कि प्राण-धारण यज्ञ तब बनता है जब जीवन की प्रकृत क्रिया को संस्कृत किया जाये। क्रिया को कर्म बनाया जाये। बोध में जाग्रत रह कर आत्म-चेतन भाव से यज्ञ बना कर किया जाये। यज्ञ को प्राण-यापन का प्रतीक बनाते हुए उस में होने वाली हर क्रिया के साथ ब्राह्मण में निर्देश है : इस से ऐसा हुआ, यह जाने। मनुष्य में स्वतन्त्र होने के साथ आत्मचेतना भी सहज है – दोनों में एक परस्पर-भाव का सा सम्बन्ध है – पर आत्मचेतना को जगाये भी रखना पड़ता है। और बात केवल जो कुछ अपने-आप क्रिया की तरह हो रहा हो उसको द्रष्टा-भाव से जानते ही रहने की नहीं है। प्रयत्न की, चेष्टा की, 'करने' की भी बात है। प्राण-यापन मनुष्य के लिये एक कर्म है। यह कर्म तब सम्यक् भाव से सम्पन्न होता है जब इसे यज्ञ का रूप दिया जाये। इस कर्म को यज्ञ का रूप तब मिलता है जब कोई प्राणों को द्रष्टा-भाव के बोध में अपने से अलग करता हुआ उन्हें देवता बनाता है और देवता बने प्राण में अपने सहज, प्राकृत प्राण की आहुति देता है। यही चरम आहुति है – परम पुरुषार्थ है। यही स्वर्ग का द्वार है – देवत्व का पंथ। इस से हमारे प्राण, हमारी इन्द्रियां, हमारी वृत्तियां : मन, चक्षु, श्रोत्र, वाक् : उत्क्रमण करते हैं। देवता बने अग्नि-बीज प्राणों की ओर बढ़ते हैं। हमारा शरीर इन अग्नि-बीज प्राणों में देवत्व से बिंध जाता है – देवता का घर बन जाता है।

यहां ब्राह्मण एक मन्त्र कहता है – किस संहिता से है पता नहीं। सम्भव है किसी संहिता से न हो, जिस परम्परा में ब्राह्मण की रचना हुई है उसका अपना संकल्प हो। मन्त्र मूल में देता हूं : अस्माद् वै त्वम् अजायथा एष त्वज् जायतां स्वाहा – "इस से तुम्हारा जन्म हुआ था, अब तुम से इसका जन्म हो, स्वाहा"। जिन अग्नि-बीज प्राणों की, जिस देवता की बात हो रही है उसे ही यहां दूसरे शब्दों में परम ऋत कहा जा रहा है – सत्य का चरम, ध्रुव छंद जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। हमारा जनक है। इस छंद को कर्म से जगाये रखना ही यज्ञ है। ब्राह्मण में ध्वनि यह जान पड़ती है कि ऋत का छंद जनक होता हुआ भी, अपनी गति से, अपने स्वभाव से सहज चलता हुआ भी ऐसा छंद है जो हमारे स्वतन्त्र प्रयत्न की भी मांग करता है। हम स्वतन्त्र हैं, ऋत के उस छंद से अपने को अलग भी रख सकते हैं, पर तब हमारा जीवन यज्ञ नहीं होगा। हमें अपने-आप को ऋत में ढालते हुए उसके स्पन्द में चलना चाहिये। यही हमारा यज्ञ है – कर्त्तव्य है, धर्म

है। इसी से हम ऋत के नित्य अमृत-स्वरूप में अवगाहन कर सकते हैं। प्रश्न उठ सकता है : हम अगर स्वतन्त्र हैं, यज्ञ से मुंह मोड़ सकते हैं – जान-बूझ कर अपनी स्वायत्त बुद्धि के विवेक में जागते हुए भी मुंह मोड़ सकते हैं – तो फिर हममें वह क्या है जो हमें इस ओर प्रवृत्त करता है? हम ऐसे यज्ञ को अपने जीवन का आदर्श क्यों बनायें? बुद्धि तो और भी आदर्श दिखाती-बनाती ही है : हमारी सहज कामना के – प्रेयस् के – मार्ग में हमें कामना-पूर्त्ति के उपाय-कौशल सुझाती है। फिर हम ऐसे यज्ञ की ओर क्यों मुड़ें जो परोक्ष है, सहज बुद्धि-सिद्ध नहीं है। यह प्रश्न, जैसा हम इंगित कर भी आये हैं, श्रेयस् के ऐसे किसी भी आदर्श के प्रति सहज है जो प्रत्यक्ष और अनुमान की पकड़ में न आ सके और श्रेयस् का ऐसा कोई भी आदर्श ढूंढ़ना कठिन है जो अपने 'आदर्श' रूप में सर्वथा प्रत्यक्ष और अनुमान की पकड़ में आ जाये। कहा जाता है कि कामना के प्रेयस् का आदर्श ऐसा है जो हमारे लिये प्रत्यक्ष है – स्वतःसिद्ध है – अनुमान से उसकी पुष्टि और जीवन में उसकी प्रतिष्ठा की जा सकती है। अनुकूल व्यवस्था की साधना की जा सकती है। पर बात एक हद तक ही ठीक है। विचार करें तो प्रेयस् भी एक आदर्श ही ठहरता है। उसे भी परम पुरुषार्थ बना लेना, जीवन-यापन का सर्वांगीण ध्येय मान लेना हमारी सहज या स्वतःसिद्ध प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि अगर प्रेयस् की ओर हमारी वृत्ति सहज है तो प्रेयस् से हट कर हम जिसे श्रेयस् कह सकें, जिस में अकाम धर्मबुद्धि रख सकें, जिसमें कर्म का, इतिकर्त्तव्यता का अपना स्वतन्त्र औचित्य देख सकें, कर्म की ऐसी दिशा की ओर भी हमारी वृत्ति सहज है। नहीं तो धर्म का प्रश्न केवल नीति का प्रश्न होता। पर इस दिशा में हमें कामना या प्रत्यक्ष-और-अनुमान-से-घिरा बुद्धि का व्यापार प्रेरित नहीं करता। तो फिर क्या करता है?।

याज्ञवल्क्य के प्रसंग में इसका एक उत्तर ढूंढा जा सकता है। हमारी वृत्तियों में एक वृत्ति है श्रद्धा। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि श्रद्धा ही हमें यज्ञ के आदर्श की ओर मोड़ती है। यों उनकी बात को सामान्य रूप में लें तो कह सकते हैं कि श्रद्धा हमें परोक्ष आदर्श-मात्र की ओर मोड़ती है। पर याज्ञवल्क्य परम्परा विशेष में यह बात कह रहे थे और किसी भी परम्परा में रहते हुए श्रद्धा हमें परम्परा में उपलब्ध आदर्श या आदर्शों की ओर ही मोड़ती है। याज्ञवल्क्य के सामने यज्ञ का आदर्श था जिसे उन्होंने अपनी तरह एक अंतरंग भाव से समझा। वे कहते हैं कि श्रद्धा में सत्य की आहुति ही यज्ञ है। यज्ञ का मर्म पहले प्रसंग में ऋत – दूसरे शब्दों में सत्य – के रूप में देखा गया लगता है। याज्ञवल्क्य की बात में एक नया मोड़ है, या यों कहें कि एक नया जोड़ है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'सत्य' से जुड़ने के लिये श्रद्धा की लौ चाहिये जिससे द्रव्य-रूप सत्य की बाती जल सके, यज्ञ की अग्नि जाग्ती रहे। याज्ञवल्क्य यह कहते जान पड़ते हैं कि सत्य हो, पर उस सत्य को श्रद्धा के साथ न जोड़ा जाये तो यज्ञ नहीं होगा।

जैमिनीय ब्राह्मण में यज्ञ की जो धारणा हमारे सामने आती है उस में एक और बात ध्यान देने की है। धारणा केवल कर्म तक सीमित नहीं है। जीवन के सारे पसारे पर व्याप्त

है। हमारी सभी वृत्तियां, प्रवृत्तियां यज्ञमय हों, यह आदर्श है यहां। ब्राह्मण कहता भी है : सो तः (यज्ञ करने वाला उस यज्ञ के करने से) आहुतिमयो मनोमयः प्राणमयश् चक्षुर्मयश् श्रोत्रमयो वाङ्मय ऋङ्मयो यजुर्मयस् साममयो ब्रह्ममयो हिरण्मयो अमृतस् स भवति। दूसरे शब्दों में यज्ञ का अर्थ है हमारे ज्ञान, भाव, कर्म इन सभी वृत्तियों का किसी आदर्श 'अमृत' में स्थित होना। पर हमने बात धर्म की उठाई है। उसका वलय कर्म तक सीमित है। यह बात और है कि यहां जिस यज्ञ की धारणा से हमारा सामना है उसमें ज्ञान और भाव भी कर्म के ही पेटे में बैठे दिखाई देते हैं : कर्म की वृत्ति की तरह ज्ञान और भाव की वृत्तियां भी यज्ञ का ही अंग हैं, और यज्ञ एक व्यापार है, कर्म है, उसमें कुछ करना ही प्रधान है – आहुति 'दी' जाती है – इस अर्थ में यहां ज्ञान और भाव को भी कर्म के ही रूप में देखा गया जान पड़ता है। इस से एक जटिल प्रश्न खड़ा हो सकता है कि कर्म क्या है? उसका ज्ञान और भावना से भेद क्या है? हम क्या कर्म, ज्ञान और भावना इन तीनों के बीच किसी भी तरह की कोई लक्ष्मणरेखा वास्तव में खींच भी सकते हैं? इस प्रश्न में यहां जाना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रसंग से हम बहुत दूर छिटक जायेंगे। हमारी परम्परा में ज्ञान, भाव और कर्म को नितान्त भिन्न मानने की भी एक दृढ़ परम्परा रही है : शंकर को ही लीजिये जो ज्ञान को कर्म से बिल्कुल अछूता मानते हैं। और रस-चिंतन के कुछ सूत्रों को लीजिये, भाव को कर्म और ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता देते जान पड़ते हैं। हम इन परम्पराओं की दुहाई यहां नहीं देना चाहते, भेद-अभेद की गुत्थी से किनारा-सा करते हुए कर्म के क्षेत्र को वही मान कर चल रहे हैं जो क्षेत्र आचरण, व्यवहार, शील के अर्थ में 'धर्म' का माना गया है। 'संकट' – संकट के एक दुस्तर, दूभर, सांस के साथ फंसी पीड़ा के अर्थ में 'संकट' – धर्म के क्षेत्र में ही उठता है। ज्ञान और भाव में भी औचित्य-विचार की गहरी समस्यायें उठती हैं, पर उनमें धर्म-संकट का सा नस में उतर जाने वाला कांटा नहीं होता।

पर ब्राह्मण की गहराई-में-उतारती दृष्टि को हृदयंगम कर भी लें तो भी एक कठिन प्रश्न उठता है – हम चाहें तो इसे धर्म के मर्म में बिंधा एक मूल 'संकट' कह सकते हैं। एक दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि मीमांसा में इस संकट को टालने का एक विचित्र सा प्रयास है। यहां ब्राह्मण में यज्ञ के प्रति जो दृष्टि है वह धर्म को बृहत्, हमारी-हर-चेष्टा-में-अनुविद्ध साधना का रूप देने की मांग करती है। पर हम मान भी लें और श्रद्धा के साथ मान लें कि हमें इसी भाव से कर्म करने की साधना करनी चाहिये, तो भी वही सवाल फिर रह जाता है कि हम करें क्या? हमारा आचरण, व्यवहार कैसा हो? किस विधि-निषेध का हम पालन करें? धर्म को जीवन में कैसे उतारें, रूप क्या दें? यह कहना तो ठीक है कि हम जो भी करें यज्ञ की तरह करें, पर वह यज्ञ हो कैसा? किया कैसे जाये? मीमांसा के पास इसका बना-बनाया, तैयार सा जवाब है। यज्ञ में किये गये छोटे से छोटे 'कर्म' की 'इतिकर्त्तव्यता' को वहां स्पष्ट, सांगोपांग विधियों में उतार दिया गया है। हम ऊपर एक प्रश्न दुहराते आये हैं, जिसे हमने धर्म की मूल जिज्ञासा

कहा है : 'किं मया कर्त्तव्यम् ?' – मुझे करना क्या चाहिये, मेरा कर्त्तव्य क्या है ? इसी प्रश्न को हमने धर्म-संकट के बीज के रूप में देखा था। यह प्रश्न, 'किं मया कर्त्तव्यम्', इसी रूप में मीमांसा में भी जिज्ञासा के बिल्कुल आरम्भ में उठता भी है। और वहां भी इसे धर्म के मूल प्रश्न के रूप में ही उठाया गया है। उत्तर भी इसका वही है जो अभी हमने जैमिनीय ब्राह्मण में पाया : 'हमें चाहिये कि हम यज्ञ करें'। फिर यज्ञ के स्वरूप पर विचार है, विस्तार से यज्ञ में होने वाली क्रियाओं का वर्णन है, प्रश्न हैं, उलझनें हैं, पूर्वपक्ष हैं, विवाद हैं, पर ऐसा कुछ नहीं जिसे हम किसी भी तरह धर्म-संकट कह सकें। मीमांसा के प्रवर्तक भी कोई जैमिनी माने गये हैं, पर मीमांसा जैमिनीय ब्राह्मण से बिल्कुल उल्टी दिशा लेते हुए यज्ञ को जीवन की समग्रता से हटा कर एक अलग-थलग से कर्मकाण्ड में समेट कर रख देती है। कर्म को क्रिया बना कर । वहां कोई संकट की बात नहीं – हां, ऐसे प्रश्न बार बार उठते हैं कि जौ के जिन दानों से आहुति दी जाये उन्हें कूट कर छिलकों से बाहर किया जाये या नाखून से ? साम गाता हुआ याज्ञिक किस पेड़ को छूता हुआ गाये ? छुए तो किस अंग से पेड़ के किस अंग को ?

यों धर्म और यज्ञ का हम वह अर्थ लें जो मीमांसा लेती है तो न धर्म-संकट होगा और न यज्ञ कैसे किया जाये इस प्रश्न के उत्तर में कोई टेढ़ी, झकझोर देने वाली गुत्थी। हमें जो कुछ करना है वह अगर एक एक क्रिया के रूप में बिल्कुल साफ है तो संकट कैसा ? जैमिनीय ब्राह्मण की दिशा मीमांसा के जैमिनी से बिल्कुल उल्टी है। पर उसके साथ भी एक जटिल समस्या है : मीमांसा कर्म को क्रिया बना देती है तो जैमिनीय ब्राह्मण कर्म को क्रिया से बिल्कुल विच्छिन्न कर देता है। वह धर्म और यज्ञ को जीवन के साथ तो जोड़ता है पर धर्म के तत्त्व को ऐसे सूक्ष्म शिखर पर ले जा कर बैठा देता है जहां किसी 'करने' से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता है। यह सवाल सताता है कि माना धर्म यज्ञ ही सही, पर उसे किया कैसे जाये ? इसी बात को यों भी रखा जा सकता है : कर्म का प्रश्न माना कर्मकाण्ड का नहीं, आचरण, व्यवहार के औचित्य का प्रश्न है, पर फिर भी यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि आचरण कैसा हो ? व्यवहार का रूप क्या हो ?

जीवन-यापन के साथ जुड़े हुए आचरण, व्यवहार के औचित्य का प्रश्न ब्राह्मण में नहीं धर्म-सूत्रों में, स्मृतियों में और उन पर लिखी गई टीकाओं में मिलता है। और अपनी तरह की पैठ के साथ इतिहास और पुराण में। यह मीमांसा से अलग धर्मशास्त्र की परम्परा है। इसका एक बहुत बड़ा साहित्य है जिसकी धारा आज तक चली आती है। धर्मशास्त्र की परम्परा का एक विस्तृत और व्यवस्थित रूप हमें पण्डित लक्ष्मण शास्त्री जोशी संपादित **धर्मकोश** में देखने को मिलता है। **धर्मकोश** में इस परम्परा के ग्रन्थ और विचार एक बृहत् कोश की तरह ही नहीं सजाये गये हैं, इस सजावट में काल-क्रम का भी ध्यान रखा गया है। इस 'कोश' में धर्मशास्त्र के विचार का इतिहास-सा भी सामने आता रहता है। हम आगे की चर्चा में इस 'कोश' का सहारा लेते रहेंगे।

आचरण और व्यवहार का क्या औचित्य हो, इस में जो आधारगत उलझन है, संकट बना प्रश्न है, प्रत्यक्ष और अनुमान में जिसका उत्तर नहीं मिलता, वह अपनी तरह से

धर्मशास्त्र की परम्परा के आरम्भ में ही एक प्राचीन धर्म-सूत्र में उभर कर आता है। सूत्र आपस्तम्ब का धर्मसूत्र है जो धर्मशास्त्र की परम्परा के आदि-ग्रन्थों में से है।

"धर्म क्या हो", इस प्रश्न की कसक को उभारते हुए, इसके उत्तर की खोज में जो अदृश्य और अनजान का, धर्म के गुहा में ओझल रहने का 'संकट' है, उसे जगाते हुए आपस्तम्ब कहते हैं : "धर्म और अधर्म यह कहते हुए नहीं घूमते रहते कि यह देखो ये हम हैं। न देव न गन्धर्व न पितर, कोई आकर नहीं बताता कि यह धर्म है, यह अधर्म" (न धर्माधर्मौ चरत आवं स्व इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षते यं धर्मो यमधर्म इति। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र,** 1.20.4। **'धर्मकोश' खण्ड 5, भाग 1,** प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई, 1988, पृष्ठ 429 पर उद्धृत)।

पते की बात यह है कि यहां धर्म के प्रत्यक्ष – और यों अनुमानगम्य – होने से ही नहीं इन्कार किया गया है, यह भी कहा गया है कि उसकी कोई आकाशवाणी भी नहीं होती – कोई दैवी शक्ति उसके स्वरूप का हमें उपदेश नहीं देती। वह श्रुतिगम्य भी नहीं है। श्रुति-निष्ठ वैदिक परम्परा में यह बड़ी चौंका देने वाली बात है। साहस की बात है। पर प्रश्न का उत्तर उतना चौंका देने वाला नहीं है। उलटे बड़ा लीक पर चलता हुआ सा उत्तर जान पड़ सकता है। **मीमांसा** धर्म को प्रत्यक्ष और अनुमान से परोक्ष बताती है। उसे 'अदृष्ट' के क्षेत्र में रखती है। किस अर्थ में अदृष्ट, इस पर हम आगे विचार करेंगे। पर एक बात यहीं कह रक्खूं : **मीमांसा** ने किसी अगाध की ओर आंख उठा देने वाले इस 'अदृष्ट' शब्द में भी 'दृष्ट' का सा ही मामूलीपन देखा है। परोक्ष को प्रत्यक्ष की ही छाया बना दिया है। आपस्तम्ब के उत्तर में भी कुछ ऐसी ही बात लग सकती है।

ऐसा इंगित दे कर कि धर्म किसी अदृष्ट का वासी है आपस्तम्ब उसका रूप **दृष्ट** में ढूंढ़ निकालना चाहते हैं। कहते हैं कि हमें करना वही चाहिये जो परम्परा में होता चला आया है। हमें परम्परा के 'अच्छे', 'भले' लोगों का चलन अपनाना चाहिये। ऊपर उनके जिस सूत्र का हम उद्धरण दे आये हैं उसके ठीक बाद, अपने प्रश्न का उत्तर देते हुए आपस्तम्ब कहते हैं : "जिसके किये जाने पर आर्य प्रशंसा करते हैं वह धर्म है, जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म" (**आपस्तम्ब धर्मसूत्र,** 1.20.7)। दूसरे शब्दों में धर्म का आधार शिष्टाचार है।

सच पूछें तो **आपस्तम्ब** को पढ़ने वाले के लिये यह उत्तर कोई अचम्भे की बात नहीं लगती। जिस प्रश्न का यह उत्तर है वह उनके ग्रन्थ के आरम्भ में नहीं बीच में उठाया गया है। आरम्भ से ही वे धर्म को परिनिष्ठित आचार के रूप में देखते हुए आगे बढ़ते हैं। बल्कि अचानक ऐसी बात का पहेली बन कर उठ जाना कि धर्म क्या है, हमें कौन बतायेगा, यही अचम्भे की बात लगती है। क्योंकि **आपस्तम्ब** का पहला ही सूत्र है : "अब हम उन धर्मों की व्याख्या करेंगे जो समय रूप हैं – जो हमारे आपस के समझौते से एक व्यवस्था खड़ी करते हैं – और जिनका आचार में पालन होता है।" अगला है : "धर्म को जानने वालों ने जो व्यवस्था खड़ी की है (कर्म के औचित्य में) वही प्रमाण है

– धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्"। तीसरा है : "और वेद प्रमाण हैं"। तो आपस्तम्ब परम्परावादी ही थे। उनका प्रश्न लीक से हटने का इशारा नहीं है। पर एक अनिवार्य अर्थ में आचार का आद्य आधार परम्परा ही हो सकती है। और ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि आपस्तम्ब का – या किसी और स्मृतिकार का – परम्परावाद किसी रूढ़ि की टेक की ही दुहाई है। परम्परा के अर्थ में वहां गहराई भी है, विवेक का सम्बल साथ रखने का पुरुषार्थ है। ऊपर हमें प्रश्न के ठीक बाद के सूत्र, 1.20.7, जिसका हमने अभी उद्धरण दिया है, उससे लग सकता है कि कहां आकाश में उठा कर धरती पर ला गिराया – पर उसके बाद ही के सूत्र, 1.20.8, को देखिये : "सभी जनपदों में हमें चाहिये कि ऐसे आर्य जो नितान्त समाहित हैं – आत्मस्थ हैं, जितेन्द्रिय हैं – उनके आचरण – वृत्त – को अपनायें। जो अच्छी तरह विनीत हैं – विवेक के वश में हैं – वृद्ध हैं, आत्मवान् हैं, अलोलुप हैं, दम्भ-रहित हैं, ऐसों के आचरण के सदृश आचरण करें।" यों तो बात यहां शिष्टाचार को व्यवहार का आदर्श मानने की वही बात लग सकती है जो स्मृति-साहित्य में स्तम्भ की तरह गाड़ कर कही गई है, पर शिष्ट – जिसे यहां ठीक पहले ही के सूत्र की तरह आर्य कहा गया है – उसकी पहचान की गहराई देखिये। उसकी पहचान किसी बाहरी प्रत्यक्ष गुण से नहीं है उसके अन्तरंग आत्मगुणों से है; किसी लकीर की फकीरी से नहीं। हमें जब शिष्ट के सदृश आचरण करने के लिये कहा गया है – उसका 'अनुकरण' करने की देशना दी गई है – तो यह अनुकरण कैसा हो, इस प्रश्न का उत्तर केवल बहिरंग व्यवहार के सादृश्य पर आ कर ठहर ही नहीं सकता। ऐसा बहिरंग अनुकरण मीमांसा के विधि-निषेध-से-बंधे यज्ञ पर ही पूरा उतर सकता है। हालांकि वहां अनुकरण की बात कही नहीं गई है : पर वहां विधि-निषेध के समूचे पसारे का उद्देश्य ही यही है कि किसी मूल, बिल्कुल-ठीक-किये-गये यज्ञ की हर क्रिया का यों का यों अनुकरण किया जा सके – वहां विधि-निषेध वैसे ही हैं जैसे किसी यन्त्र के साथ आने वाली पुस्तिका में होते हैं, जिनके आधार पर यन्त्र को अपने ठीक मूल रूप में फिट किया जा सकता है। आपस्तम्ब के समाहित, अलोलुप, आत्मवान् आर्य के व्यवहार को **मीमांसा** के यज्ञ जैसे विधि-विधान में बांधने का अर्थ ही क्या होगा अगर अनुकरण करने वाला इन गुणों का भी 'अनुकरण' न करे? पर ऐसे गुणों के 'अनुकरण' का क्या अर्थ होगा यह प्रश्न स्मृति की परम्परा में नहीं नाट्य की परम्परा में उठा है। नाट्य का लक्षण ही अनुकरण कहा गया है पर नाट्य किसी बहिरंग का नहीं अंतरंग का ही अनुकरण होता है – भाव का, कर्म का अनुकरण। जैसे शोक का या किसी के संकल्प का। शोक के अनुकरण को अनुकरण कहा जाये या नहीं, कहा जाये तो किस अर्थ में, ये प्रश्न अभिनवगुप्त ने उठाये हैं। पर स्मृति की परम्परा में, जहां तक मैं समझता हूं, ऐसे प्रश्न नहीं उठे हैं। उठाये जायें तो एक बात पहले ही सामने आयेगी : नाट्य और आचरण दोनों के अनुकरण में अंतरंग होने का भाव तो स्पष्ट है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि दोनों का अंतरंग होने का भाव एक-सा नहीं हो सकता – नाट्य में जो अनुकरण करता है, नट, उसमें वह भाव, शोक, या कुछ करने का संकल्प

तो होता है पर सचमुच नहीं होता। सचमुच हो तो नाट्य ही बिखर जायेगा। लेकिन आचरण में लोभ और दम्भ का अभाव और आत्मवान् होने का भाव सचमुच न हो तो आचरण झूठा कहलायेगा। हम कहेंगे "नाटक कर रहा है"'।

जहां किसी अंतरंग भाव या तत्त्व – या संकल्प – का 'अनुकरण' करना हो, उसे सार्थक बहिरंग रूप देना हो, वहां यह प्रश्न सहज है कि अनुकरण कैसा हो, कैसे हो? नाटक में भी प्रश्न सताता ही है – चाहे भाव 'सचमुच' का न हो : अभिनय में शोक का सही निभाव कैसे हो यह प्रश्न नट के लिये बड़ा प्रश्न है। पर आचरण में तो यह प्रश्न संकट का रूप भी ले लेता है। इसलिये कि वहां अनुकरण सचमुच का होना चाहिये। बल्कि उसे अनुकरण कहना ठीक भी है या नहीं, यह प्रश्न उठ सकता है।

ऊपर आपस्तम्ब के वचन में एक उत्तर मिल सकता है जो यहां दिशा देता दिखाई देता है। अगर हम अलोलुप हैं, दम्भ-रहित हैं और साथ ही समाहित हैं – बाहर की ओर नहीं, अपने भीतर के तत्त्व की ओर देख रहे हैं – आत्मवान् हैं – अपने बस में हैं, राग-द्वेष, काम के बस में नहीं – तो हमारा आचरण धर्म का आचरण होगा। हमारे आचरण में धर्म अपने-आप रूप लेगा। गहराई का उत्तर है। पर फिर बात अनुकरण की नहीं रह जाती। आपस्तम्ब का यह निर्देश कि शिष्ट के सदृश बनो, उसका अनुकरण करो, यह बात फीकी पड़ जाती है।

पर मुझे लगता है कि धर्म के ऐसे ही 'आत्मस्थ' स्वरूप में धर्म-संकट का भी मूल बीज है। धर्म को यों आत्मस्थ बना देने पर बात 'अनुकरण' के घेरे से निकल जाती है, अनुकरण कैसा हो यह प्रश्न ही नहीं उठता, अप्रश्न हो जाता है। बात अंतरंग की ऐसी भीतर गुफा में जा पहुंचती है जहां बहिरंग कहीं रहता ही नहीं। पर फिर भी अंतरंग को बहिरंग में क्या और कैसे रूप दिया जाये, धर्म का यह प्रश्न निरन्तर बना रहता है। क्या आत्मस्थ, अलोलुप, दम्भ-रहित होने पर आचरण और व्यवहार की समस्या का स्वतः समाधान हो जायेगा? हो सकता है व्यक्ति विशेष के आचरण में हो भी जाये, पर समस्या यह है कि हम क्या करें जो उस स्थिति में नहीं हैं या अधूरे से ही हैं? समष्टि का क्या आचरण हो, क्या इसका भी समाधान हो जायेगा? हमारे धर्म-चिन्तन के मूल में ही एक बात मान कर चली गई दिखाई देती है : हम क्या करें, धर्म का यह प्रश्न, यह संकट उठता ही तभी है जब लोभ, मोह, राग, द्वेष ... आत्म-च्युति के लक्षण, मनुष्य को आ घेरते हैं। सतयुग में जब ये लक्षण नहीं थे तब धर्म क्या है, यह प्रश्न भी नहीं था। इन्हीं लक्षणों के कारण नाट्यशास्त्र का जन्म हुआ है और धर्मशास्त्र का भी और दोनों में अपनी अपनी तरह से अनुकरण की समस्या आ खड़ी होती है। एक गहरे अर्थ में धर्म का प्रश्न ही यही है। बात कुछ खुलासा चाहती है। उसे बढ़ाता हूं।

बढ़ाने के लिये **महाभारत** के उस प्रसिद्ध श्लोक का सहारा लेता हूं जो हमारी बातों में पहले भी झांक चुका है, जहां धर्म के तत्त्व को गुहा-निहित बताया गया है :

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

इस श्लोक के सहारे बात बढ़ाने से पहले एक बात उठाना चाहता हूं जो प्रसंग से हट कर है पर जिस से मुझे उद्वेग हुआ। जैसा आप जानते ही होंगे, यह श्लोक आरण्यक पर्व के उस उपाख्यान में आता है जहां चार पाण्डवों के प्राणों को अपनी मुट्ठी में कर के यम रूपी यक्ष युधिष्ठर से कई प्रश्न पूछता है। यह श्लोक उस प्रश्नोत्तरी के अन्त में यक्ष के वचन में आता है। मैंने **महाभारत** का सुखथंकर वाला 'संशोधित' संस्करण उठा कर देखा तो श्लोक वहां नहीं था। संशोधित संस्करण के दो रूप हैं, एक छोटा और एक बड़ा – जो सचमुच बृहत् कार्य है। छोटे में वे श्लोक जो प्रक्षिप्त माने गये हैं, नहीं दिये गये हैं। बड़े में खिल के रूप में दिये गये हैं। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में एक बड़ा सा खिल का भाग है जो बड़े संस्करण में नहीं है। वहीं यह श्लोक है। अर्थात् 'संशोधित' संस्करण इस श्लोक को मूल और शुद्ध **महाभारत** का अंग नहीं मानता। यहीं एक प्रश्न मेरी तरह आपके मन में उठ सकता है, ऐसे सभी के मन में उठना चाहिये जिन्हें इस श्लोक ने उसकाया है, कचोटा है : अगर यह श्लोक भी **महाभारत** से हमें निकालना पड़े तो फिर **महाभारत** से हम क्या समझते हैं? **महाभारत** के ऐसे विशुद्ध कहलाने वाले मूल का क्या अर्थ जहां ऐसे श्लोक जो हमारे लिये उस ग्रन्थ के प्राण में प्रतिष्ठित हैं उन्हें भी 'प्रक्षिप्त' मानना पड़े? यह सही भी हो कि मूल का संधान एक विशेष प्रकार की साधना है जो एक विशेष रीति और पद्धति से की जाती है और जहां 'हमें क्या लगता है, हम अपने अन्तर की किसी 'सब्जेक्टिव' परख से **महाभारत** के किसी मूल 'भाव' या 'आत्मा' को किस रूप में भांपते हैं', इन बातों के लिये कोई स्थान नहीं। और फिर, जो लोग अन्तर की परख से **महाभारत** के भाव को पकड़ते आये हैं वे भी मूल के बारे में एकमत कहां हैं, उन्हीं की परम्परा में तो प्रक्षेप हुए हैं। ये बातें सही भी हों तो भी मन में एक बेचैनी सी रह ही जाती है कि अगर यह श्लोक भी प्रक्षेप है तो फिर प्रक्षेप का अर्थ क्या? क्या 'प्रक्षेप' के तात्पर्य को उसी तरह परखना ठीक भी होगा जैसा मूल के आधुनिक संधानी परखते हैं? क्या जिस रीति-नीति से हम प्रक्षेप को तोलते हैं वह भी हमारे 'विशुद्धि' के आग्रह-विशेष का प्रक्षेप तो नहीं?

पर चलिये प्रक्षेप ही सही, इस बात से फिर भी कम लोग इन्कार करेंगे कि इस श्लोक ने हमारे विचार में आलोड़न का भी प्रक्षेप किया है। और चाहे यह **महाभारत** में पीछे से आया हो, इसके भाव में **आपस्तम्ब** की स्पष्ट प्राचीन छाया है। **आपस्तम्ब** ही की तरह यह धर्म को दुर्बोध बताता हुआ शिष्टाचार में उसके पदचिह्न ढूंढता है। अन्तर यह है कि यहां शिष्ट कोई समूह या परम्परा नहीं, कोई एक असाधारण व्यक्ति-विशेष – कोई 'महाजन' – है : महाजन का आचरण हमें धर्म का सही रास्ता दिखाता है, हमारे लिये प्रमाण है।

करनी और कथनी को लेकर भी इस श्लोक के गर्भ में एक प्रश्न है, धर्म को पहचानने में उभरता एक संकट है, जिसको आपस्तम्ब ने और स्पष्ट मुखर किया है और जिस पर पीछे **स्मृतियों** में काफी चर्चा रही है। प्रश्न है : क्या हमें शिष्ट या महाजन की करनी का अनुकरण करना चाहिये या उसकी कथनी का? **महाभारत** के श्लोक में कथनी अप्रमाण ठहरती है। यों भी हम कह ही सकते हैं कि अगर हम कर्म की इतिकर्त्तव्यता को पाना चाहते हैं तो इसके लिये कर्म या करनी ही का आदर्श होना स्वाभाविक और उचित है कथनी का नहीं। कथनी के अप्रमाण को गम्भीरतर बनाता हुआ श्लोक कहता है कि ऋषि की भी कथनी का कोई भरोसा नहीं : नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् – एक भी ऐसा ऋषि नहीं है जिसका प्रतिपादन, जिसका 'कहा' धर्म को जानने में प्रमाण का काम कर सके। ऋषि का मत – उसका विचार, उसकी देशना – उसकी कथनी – इन के दो आधार हो सकते हैं : तर्क या कोई अपौरुषेय प्रज्ञा-दृष्टि जो श्रुति के रूप में उतरती है। तर्क के प्राण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इन्हें मीमांसा ने पहले ही धर्म के क्षेत्र में निष्प्रज्ञ ठहरा दिया है। **महाभारत** यहां बादरायण की बात भी दुहराता हुआ युक्ति देता है कि तर्क स्वभाव से ही बेसहारा है – अप्रतिष्ठ है। तर्क का प्रति-तर्क होता ही है या हो ही सकता है, और तर्क-प्रतितर्क का प्रवाह अनन्त है, किसी निश्चय पर आ कर टिक नहीं सकता। टिकना उसके लिये सम्भव ही नहीं।

श्लोक की इसके बाद की उक्ति मीमांसा से – और बादरायण से भी – हट कर है। महाभारत में यम तर्क को ही नहीं श्रुति को भी धर्म का आधार बनने में सक्षम नहीं पाते। कहते हैं कि ऋषि की दृष्टि जिन श्रुतियों में प्रकट होती है वे ही विरोधी बातें कहती हैं, उनमें 'एकवाक्यता' नहीं है : श्रुतयो विभिन्नाः। वे इतिकर्त्तव्यता का मार्ग कैसे दिखा सकती हैं? मीमांसा और वेदान्त दोनों अपनी तरह से श्रुति के तात्पर्य में अभेद, अविरोध साधते हैं। पर दोनों के अभेद अभिन्न नहीं हैं। उन में गहरा विरोध है जो हमारे यहां के चिन्तन में कर्म और ज्ञान के अभेद-से-अछूते विरोध के रूप में आज भी हमारी मनीषा को कचोटता है। जो दृष्टि दोनों के इस असंश्लेष्य विरोध को देख रही हो – जैसा इस श्लोक के अभिप्राय में हम देख सकते हैं – उसके लिये तो दोनों का विरोध श्रुतियों के परस्पर विभेद को और गहरा ही कर देगा।

एक बात और है जो इस श्लोक के अभिप्राय में न भी हो तो भी श्लोक की ध्वनि से हम में जाग सकती है। हमने ऊपर देखा कि मीमांसा में कर्म का जो रूप उभर कर आता है वह इस श्लोक के धर्म-संकट का उत्तर हो ही नहीं सकता : क्योंकि यहां प्रश्न यह नहीं कि यज्ञ की क्रियाओं को कैसे करें, प्रश्न है हमारा आचरण क्या हो – यह प्रश्न नहीं होता तो महाजन के चले मार्ग पर चलने की बात ही नहीं उठती। पर क्या बादरायण की वेदान्त-परम्परा का ज्ञान-मार्ग इसका उत्तर हो सकता है? सम्भव नहीं लगता। वेदान्त निवृत्ति का मार्ग है, कर्म से हट जाने का मार्ग, जब कि प्रश्न प्रवृत्ति का है – प्रवृत्ति के औचित्य का। निवृत्ति में इसका उत्तर नहीं ढूंढा जा सकता। यहां परम्परा का आश्रय लेकर

कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति का धर्म हमें निवृत्ति की ओर झुकाना ही है। निवृत्ति और निवृत्ति से ही साधा जाने वाला ज्ञान हमारा साध्य है, परम पुरुषार्थ है, जीवन का चरम ध्येय है। माना कि हम जीते-जी प्रवृत्ति से बच नहीं सकते पर प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर मोड़ सकते हैं, और इसके लिये जो चर्या आवश्यक है वही हमें अपनानी चाहिये। इस चर्या का काफी खुलासा किया जा सकता है, इसे विधि-निषेध में बांधा जा सकता है, और ऐसा किया भी जाता रहा है। यही चर्या आचरण के लिये प्रमाण है। इसमें धर्म के अंतरंग और बहिरंग दोनों का जैसा सांगोपांग रूप हम चाहते हैं वह भी मिल ही जाता है। ऐसे आदर्श महाजन भी मिल जाते हैं जिनका अनुकरण किया जा सकता है। आचरण के इस विवरण को टाल देना उतना आसान नहीं जान पड़ता जितना मीमांसा की बात से किनारा करना लगता है। पर एक बात देखिये। यहां मूल में ही एक गम्भीर धर्म-संकट उभर कर आता है जो हमारे धर्म-चिन्तन में बार-बार उभरता रहा है : हम प्रवृत्ति का अपना औचित्य ढूँढे या निवृत्ति में ही प्रवृत्ति का भी औचित्य देखें? प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो नितान्त भिन्न मार्ग हमारे यहां सदियों से यह धर्म-संकट जगाते आये हैं। इस बात से और भी जो प्रश्न निकल कर आते हैं उन पर हम कुछ आगे विचार करेंगे। पर एक बात, मैं समझता हूं, प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रश्न के मूल में भी स्पष्ट है। प्रश्न हमारे लिये तो प्रवृत्ति के ही भीतर से उठता है, हम प्रवृत्त होते हुए ही प्रश्न करते हैं कि क्या करें। हो सकता है कि निवृत्ति में प्रश्न का पूरा समाधान मिल जाये, पर वहां प्रश्न फिर नहीं रहेगा। धर्म-संकट तो यहां, अभी, प्रवृत्ति में रहते हुए ही होता है और यहीं यह प्रश्न भी जागता है कि निवृत्ति क्या सचमुच साध्य है? दूसरे और भी तो साध्य हो सकते हैं! हम निवृत्ति की ओर ही क्यों झुकें? मीमांसा भी तो एक साध्य बताती है – स्वर्ग – जो वेदान्त की तरह श्रुति के प्रमाण पर आधारित है। यों श्रुति में विभेद और गहरा हो जाता है।

पर विभेद का अभाव ही पाना हो तो क्या महाजन की करनी में सचमुच उत्तर ढूंढा जा सकता है? महाजन एक नहीं होता और श्रुति की तरह महाजनों का विभेद भी प्रकट ही है। किस महाजन का हम अनुकरण करें? गुत्थी में एक गांठ और भी है। हम कह सकते हैं कि महाजन के पथ पर चलना – उसका अनुकरण – धर्म का मार्ग यह नहीं है। महाजन की स्थिति को पा लेना ही सच्चा पथ है। पर महाजन अगर उसे कहें जो आत्मस्थ, अलोलुप, दम्भ-रहित होता है, जो धर्म की अंतरंग गुफा में धर्म के तत्त्व में स्थित होता है तो फिर क्या वैसी स्थिति पर पहुंचना हमारे प्रश्न का उत्तर होगा? होगा भी तो भी वह कैसा उत्तर होगा? किसके लिये उत्तर होगा? जो उस स्थिति में न हो वह तो श्रुति-भेद की तरह ही महाजनों के चरित में भी भेद ही देखेगा। **आपस्तम्ब** की बात में एक यह सुझाव है कि आप जिस जनपद में रहते हैं वहां के महाजनों के पथ पर चलें – "सभी जनपदों में हमें चाहिये कि जो आर्य समाहित हैं, आत्मवान् हैं, ऐसों के आचरण के सदृश आचरण करें" (पूरा उद्धरण ऊपर आ चुका है)। यहां बात 'महाजनों' की है 'महाजन' की नहीं। इससे बात में एक आधार-गत अन्तर आ जाता है : हम अपने आचरण

का आदर्श परम्परा में ही ढूंढते हैं किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं। पर हां, हम यह चाहते हैं कि अपनी परम्परा के 'मर्म' को पाने की साधना करें। परम्परा समूह की होती है, उसका मर्म भी हमें किसी एक व्यक्ति में नहीं, किसी समूह-विशेष में ही मिल सकता है, किसी एक का आचरण परम्परा का प्रमाण नहीं हो सकता। उस विशेष समूह को पहचानने के लिये – दूसरे शब्दों में 'आर्यों' को 'पृथक्जनों' से अलग करने के लिये – आपस्तम्ब उन गुणों की ओर संकेत करते हैं जिनसे सही लोग जाने जा सकें।

पर महाजन एक हो या अनेक उनके अनुकरण का प्रश्न बहिरंग से अंतरंग की ओर ले ही जाता है। अनुकरण ही अगर धर्म है तो अनुकरण भी किसी मर्म का करना है, बहिरंग के अनुकरण का कोई अर्थ नहीं। यह मर्म किसी भी महाजन या किन्हीं भी महाजनों में अधूरा ही दिखाई देता है। बड़े से बड़े के चरित – करनी – में कहीं हमें लगता है कि यहां तो बात धर्म की नहीं हुई। यही बात स्मृतियों में कथनी और करनी के विरोध के रूप में उभारी गई है। स्मृतियां कहती हैं कि महाजन की कथनी पर चलो उनकी करनी पर नहीं। महाजनों के प्रति हमारी श्रद्धा बनाये रखने के लिये उनकी सफाई में स्मृति एक विचित्र सी युक्ति देती है। कहती है कि महाजन में एक विशेष तेज होता है जो उसके अधर्म को भस्म कर देता है पर हममें वह बात नहीं है, हमें तो महाजन की कथनी पर ही चलना चाहिए। हारीत और बौधायन दोनों के प्राचीन धर्मसूत्रों में एक श्लोक आया है जिसका आशय बाद की स्मृतियों में कई बार दुहराया गया है : अनुष्ठितं तु यद्देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तु तदुक्तं कर्म चाचरेत्॥ – देवता और मुनि जिस कर्म का आचरण करते हैं, उसका आचरण मनुष्य न करे, उनके कहे का आचरण करे। (धर्मकोश, वही, पृष्ठ, 51 और 53)

पर कथनी की समस्या हम ऊपर देख ही आये हैं : महाजन महाजन की कथनी में बड़ा भेद होता है तभी करनी की बात उठी थी : श्रुतयो विभिन्नाः। नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्। फिर धर्म के मर्म को कहां ढूंढे? यहां दो रास्ते लिये जा सकते हैं और लिये गये दिखते भी हैं। एक मार्ग धर्म को सर्वथा अंतरंग की ओर ले जाता है। पर निवृत्ति के नहीं प्रवृत्ति के ही अंतरंग की ओर : यह कहता हुआ कि धर्म अन्तर की, संकल्प की शुद्धि में है आचरण में नहीं। संकल्प शुद्ध हो, राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ हो तो कर्म सम्यक् ही होगा। यों धर्म धर्म के लिये किया जाना चाहिये, कुछ पाने के लिये या किसी इच्छा की पूर्त्ति के लिये नहीं। विचार की यह दिशा आपस्तम्ब में भी मिल जाती है जहां विचार की कई दिशाओं का मेल है। आपस्तम्ब कहते हैं कि कोई भी धर्म किसी लौकिक अर्थ की प्राप्ति के लिये नहीं किया जाना चाहिये : नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत्। (**आपस्तम्ब धर्मसूत्र,** 1.20.1, **धर्मकोश,** वही, पृष्ठ, 429) यह कह कर एक बार तो अगले ही सूत्र में बात से फिर जाते हैं। दो सूत्रों में कहते हैं कि ऐसे शुद्ध 'अलौकिक' मनोभाव से धर्म न किया जाये तो कल्याण नहीं होगा, अभ्युदय नहीं मिलेगा : निष्फला हि अभ्युदये भवन्ति। पर धर्म, धर्म के लिये किया जाये तो लौकिक

फल अपने-आप मिल जाता है जैसे आम को फल के लिये बोने पर भी छाया और सुगन्ध : तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते। यहां से बात फिर पलट देते हैं और धर्म को अपने-आप में स्वतन्त्र बनाते हुए कहते हैं कि धर्म से किसी और अर्थ की सिद्धि न भी हो, धर्म की कोई हानि नहीं होती : नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति (**धर्मकोश,** उसी पृष्ठ पर। यहां एक टीका, उज्ज्वला, कहती भी है कि धर्म स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, उससे किसी और अर्थ की सिद्धि क्यों चाहिये : स च स्वतन्त्रः पुरुषार्थः, किमन्यैरर्थैः।)

यों धर्म को इच्छा, फल-सिद्धि, अभ्युदय-कल्याण इन से हटा कर स्वतन्त्र पुरुषार्थ बना लेने पर लग सकता है कि धर्म क्या हो, इसका उत्तर आप ही मिल जायेगा। धर्म-संकट की बात ही मिट जायेगी। पर आपस्तम्ब बात को इस रूप में नहीं देखते। कोई भी धर्मशास्त्री नहीं देख सकता। धर्म क्या हो, यह प्रश्न उनके लिये संकल्प का ही नहीं आचरण का भी प्रश्न है। तभी उनका उत्तर है : शिष्टाचार धर्म है। धर्म को धर्म के लिये करने की अंतरंग बात का उनके लिये धर्म क्या हो इस बहिरंग प्रश्न से भी सम्बन्ध रचाती है। उनका आग्रह यह है कि धर्म को एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ मान शिष्ट का आचरण कर निभाया जाये, उससे कुछ और पाने के लिये नहीं।

पर ऐसे भी विचारक हैं जो संकल्प की शुद्धि में ही धर्म की विशुद्ध स्थिति देखते हैं, किसी भी आचरण विशेष से बात को हटा कर। बात कुछ वैसी ही है जैसी यज्ञ को कर्म का आदर्श बनाने की : सत्य की श्रद्धा में आहुति दो, ऋत के छन्द पर चलो। पर इन विचारकों में बात यहीं नहीं रुक जाती, कुछ आगे भी बढ़ती है। आत्म में सीमित नहीं रह कर पर की ओर उन्मुख होती है, आत्मवत् सर्वभूतेषु – दूसरे के प्रति वैसा ही आचरण-व्यवहार करो जैसा अपने प्रति चाहते हो। या गहरे अर्थ में देखें तो कह सकते हैं कि आचरण ऐसा हो जैसा उसके प्रति किया जाये जिसमें 'आत्म' हो, जो जड़ न हो चेतन हो, अपनी ही तरह स्वतन्त्र हो, धर्म का कर्त्ता हो या धर्म में प्रवृत्त हो सकता हो। कांट, मुझे लगता है, कुछ कुछ ऐसी ही बात करते हुए कहते हैं कि शुद्ध संकल्प वह है जो राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त है और जिसके बारे में हम कह सकें कि यह सबका संकल्प बने, स्वतन्त्र कर्त्ता मात्र का सार्वजनीन संकल्प। संकल्प ऐसा हो कि हम दूसरे को – दूसरे मनुष्य को – कर्म का उपाय न मानें, उपेय मान कर कर्म करें। पुराने शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि धर्म कर्म का स्वतन्त्र पुरुषार्थ है और नीति से भिन्न है – नीति उपाय-कौशल है, जड़, चेतन, चाहे मनुष्य ही क्यों न हो, सभी उसके लिये उपाय बन सकते हैं।

यह आपस्तम्ब से मिलती-जुलती, आत्मवान् और समाहित हो कर धर्म के लिये धर्म करने की सी बात है। पर आपस्तम्ब से एक अन्तर है – और बड़ा अन्तर है। इस बात में कि क्या करें, आचरण का रूप क्या हो, इस प्रश्न का कोई खुल कर उत्तर नहीं मिलता। धर्म के नेति-नेति, निराकार से स्वरूप का ही विवरण मिलता है : धर्म क्या न हो यही

प्रकट होता दिखता है जबकि आपस्तम्ब में धर्म का एक साकार रूप भी है। संकल्प-शुद्धि के निदिध्यासन के साथ यह भी देशना दी गई है कि शिष्टों के आचरण का अनुकरण करो। कांट धर्म का जो अंतरंग विवरण देते हैं उसे वे धर्म का फॉर्म बताते हैं। इसे हम धर्म की अरूप आकृति कह सकते हैं जो धर्म के कन्टेन्ट मात्र को परिभाषित करती है पर जिसका अपना कोई कन्टेन्ट नहीं होता : आचरण में धर्म कोई भी रूप ले यह आकृति उसके मर्म का स्वरूप लक्षित करेगी, क्या रूप ले यह इंगित नहीं देती। पर धर्म केवल फॉर्म तक सीमित नहीं रहता उसे कन्टेन्ट भी देना ही पड़ता है।

यहीं धर्म-संकट का का भी बीज है। धर्म का निराकार, अंतरंग रूप – चाहे तो कांट की तरह उसे धर्म का फॉर्म या अरूप आकृति कह लें – वह धर्म को एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ बता कर ठहर सी जाती है। व्यवहार के लिये धर्म का कोई रूप नहीं दिखाती। लग सकता है कि धर्म की गुफा में धर्म का तत्त्व मिल गया। जहां धर्म-संकट की भी कोई बात नहीं। हम यहां यह कह कर किनारा कर सकते हैं कि धर्म का यही तत्त्व है, यही सत्य है। पर कर्म में हम यहीं ठहरे नहीं रह सकते। यहीं ठहरे रह सकते तो धर्म-संकट से – अब करें क्या, इस प्रश्न के प्रपंच से – सचमुच उबर जाते। पर धर्म को साकार भी करना ही पड़ता है, व्यवहार में उतारना ही पड़ता है, कन्टेन्ट देना पड़ता है। और जैसे ही हम धर्म को कोई रूप देते हें, धर्म-संकट के जाल में आ ही फंसते हैं।

शिष्टाचार की बात लीजिये। हमने देखा कि वहां यह प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता कि शिष्ट कौन है? क्या उसका सभी आचार ठीक है ? और यह भी कि शिष्ट के जैसा होने का, उसके अनुकरण का क्या मर्म है ? यहां हम कहें कि हम शिष्ट की तरह आत्मस्थ, समाहित और संकल्प में शुद्ध हो जायें, यही उसके जैसे होने का मर्म है तो भी बात बनती नहीं दिखती। हमें आचार विशेष में दोष दिखता ही रहेगा, क्या यह आचार ठीक भी है, यह प्रश्न उठता ही रहेगा, और इसका उत्तर संकल्प का 'निराचार' नहीं हो सकता, कोई अन्य आचार ही हो सकता है। हम आचार और अनाचार में विवेक करने की कसौटी चाहते हैं और वह आचार से हट कर केवल संकल्प की शुद्धि में नहीं मिल सकती।

किसी भी परम्परा के और किसी महाजन या किन्हीं भी महाजनों के आचार में दोष-दृष्टि सहज है। परम्परा ऐसा करती है, पर हम ऐसा करें या न करें यह प्रश्न सनातन है। ऐसी परिस्थिति में संकल्प की शुद्धि में समाहित हो कर भी क्या उत्तर मिल सकता है? यहां इस प्रश्न पर सीधा विचार नहीं कर के एक और दिशा लेकर विमर्श करता हूं। पर एक बात शायद कही जा सकती है : संकल्प की शुद्धि में निदिध्यासन की बात उठती तभी है जब धर्म-संकट आता है, नहीं तो हम सहज प्रवृत्ति में चलते ही रहते हैं और किसी न किसी परम्परा में रह कर ही आचरण करते ही रहते हैं।

धर्म के मर्म का उद्घाटन केवल संकल्प-शुद्धि की दिशा में ही नहीं किया गया है। संकल्प की शुद्धि धर्म को आत्मस्थ हो कर देखती है, अपनी आत्मा की गुफा में धर्म के तत्त्व की ओर समाहित होती है। पर मर्म के उद्घाटन की एक दिशा और भी है जिसे

पर-उन्मुख भाव से, 'परस्थ' हो कर, धर्म के मर्म का उद्‌घाटन कह सकते हैं। आचरण पर-उन्मुख ही होता है और आचरण के औचित्य का मर्म परस्थ-भाव में ही स्थित होना चाहिये। 'महाजनों' में धर्म का तत्त्व ढूंढने की बात का भी अभिप्राय परस्थ-भाव ही लगता है।

जिन्हें धर्म-चिन्तन में साधारण धर्म कहा जाता है उन्हें हम परस्थ धर्म का मर्म या अंतरंग कह सकते हैं। इनमें एक सार्वजनीन भाव है। इसीलिये ये 'साधारण' हैं, मनुष्य मात्र के लिये हैं। और इनका मर्म प्रत्यक्-मुख न हो कर पराक्-मुख है – अंतरंग-भाव को बनाये रखते हुए ये धर्म का द्वार बाहर की ओर खोलते हैं। साधारण धर्म क्या हैं – या क्या हों – धर्म के क्षेत्र में औचित्य का यह प्रश्न स्वाभाविक है। परम्परा में साधारण धर्मों की कई तालिकायें मिलती हैं। इनमें कुछ धर्म शायद सभी तालिकाओं में मिल जायेंगे, जैसे अहिंसा, सत्य, दया, दान। पर एक बात इन धर्मों में समान रूप से है। इनका सम्बन्ध आचरण से है, ये आचरण की कसौटी के रूप में हमारे सामने रखे गये हैं। माना संकल्प की शुद्धि हो, माना संकल्प ऐसा हो जो सबका संकल्प हो सके, पर यह संकल्प हो क्या जो व्यवहार में उतारा जा सके, जिसको बरता जा सके, साकार रूप दिया जा सके? मानो इस प्रश्न के उत्तर में ही कहा गया है कि सत्य, अहिंसा, दया, दान ऐसे साधारण धर्मों का पालन करो। इन्हें अपने आचरण की कसौटी बनाओ। इनकी तुला पर जो सही उतरे वही आचरण सही है। ये धर्म, धर्म-संकट में पंथ दिखाने वाले धर्म भी, कहे जा सकते हैं। हम कह सकते हैं कि महाजनो येन गतः – बल्कि महाजनाः येन गताः – वे यही 'पंथ' हैं। इन्हीं धर्मों में शिष्ट होने का मर्म है। नहीं है तो होना चाहिये। आचरण में जहां औचित्य का प्रश्न उठ खड़ा हो, हम किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जायें, धर्म में कोई संकट आ जाये, वहां इन्हीं से धर्म की परख करनी चाहिये। आप कह सकते हैं, परख करने में समस्याएं उठेंगी, अनेकान्त होगा – एक स्थिर मार्ग नहीं दिखाई देगा, अनेक के जंजाल में एक को ढूंढने की समस्या से मुक्ति नहीं मिलेगी। यह बात सही है। ऐसी कोई मुक्ति शायद है ही नहीं। है तो फिर आत्मस्थ होने की ऐसी परमार्थ गति में है जहां व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। पर अनेकान्त की यह समस्या तो हमारी जिज्ञासा के, 'सत्य' की खोज के किसी भी क्षेत्र में बनी रहती है। बुद्धि के क्षेत्र में 'प्रमाण' को लीजिये। हम कहते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं। इनसे ज्ञान मिलता है और इनसे ज्ञान की परख होती है। प्रमाण क्या हो, क्या ये ही प्रमाण हैं, इन प्रश्नों को उठाते उठाते भी कहते हैं कि ये प्रमाण हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान ये प्रमाण का कोई साकार, प्रयोग में लाया जा सकने वाला रूप हमारे आगे रखते हैं। कहना न होगा कि इससे सत्य की समस्या मिट नहीं जाती। इन प्रमाणों का स्वरूप क्या है, इनका प्रयोग कैसे हो, क्या कोई ज्ञान इनकी तुला पर सचमुच खरा उतरा है? ये प्रश्न तो बने ही रहते हैं। फिर भी एक प्रयोग में ला सकने वाली साकार तुला तो हैं ही ये प्रमाण। ऐसे भी हैं कि प्रयोग में ही इनका निरन्तर परिष्कार भी किया जा सके। इनसे अनेकान्त मिटता नहीं, बनता ही

है, पर जो बनता है कुछ साकार बनता है। साधारण धर्मों को कुछ इन प्रमाणों का समानधर्मा कहा जा सकता है। वे धर्म में प्रमाण हैं। उन्हीं की तरह परस्थ भी हैं – किसी एक में स्वगत और सीमित नहीं, सत्य के 'महाजनों' में साधारण, सार्वजनीन रूप से स्थित हैं।

पर ये जहां धर्म का रास्ता दिखाते हैं, उसके खरेपन को साकार रूप और तुला देते दीखते हैं, वहीं ये धर्म-संकट की सबसे गहरी जड़ भी हैं। धर्म-संकट यह नहीं होता कि मैं धर्म को धर्म की तरह एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में करूं या न करूं? दूसरे को उपाय बना कर उसके प्रति कर्म करूं या उसे उपेय रक्खूं? जो कुछ करूं संकल्प की शुद्धि में करूं या न करूं? मेरा कर्म सब का धर्म हो सके या न हो सके? ये प्रश्न वास्तव में धर्म-संकट नहीं जगाते। जहां तक हम धर्म करते हैं, कर पाते हैं, धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ मान कर संकल्प-शुद्धि के भाव से ही करते हैं, पर को आत्मवत् उपेय ही मानने का आदर्श भी सामने रखते हैं। ऐसा ही धर्म करना चाहते हैं जो सार्वजनीन – दूसरे शब्दों में 'साधारण' – धर्म हो सके। पर यह भी है कि साधारण धर्म को सत्य, अहिंसा, दया, दान . . . ऐसे ही रूपों में साकार किया जा सकता है। और यों धर्म-संकट का दुस्तर द्वार खुल जाता है। धर्म-संकट गहराता ही तब है जब दो साधारण धर्मों में एक को चुनना पड़े और हम चाहे कोई सा धर्म अपनायें, धर्म की हानि से नहीं बच सकते हों, क्योंकि जिसको हम नहीं आपनायेंगे उससे हम च्युत ही होंगे और यों अधर्म से बच नहीं सकेंगे। बुद्धि के क्षेत्र में प्रमाणों का अनेकान्त हो सकता है, पर वहां पहेलियां ही उभरती हैं, धर्म-संकट नहीं। प्रत्यक्ष और अनुमान के असमंजस को देखने के लिये ज़ीनो का मशहूर पैरेडॉक्स लीजिये। गति का होना, समय का बीतना, ये ऐसे प्रत्यक्ष हैं कि इन पर संशय लाना कठिन है। पर ज़ीनो अनुमान का – तर्क का – आश्रय ले कर दिखाते हैं कि न गति सम्भव है न समय का बीतना। प्रत्यक्ष और अनुमान-जीवी तर्क के विरोध की बड़ी विषम सी समस्या खड़ी कर देते हैं जिससे फिलॉसफर सदियों से जूझते चले आ रहे हैं। पर है यह पहेली ही। बुद्धि का कौतुक जगाती है पर उसके लिये कोई गहरे संकट की सी बात नहीं। हां बात यहां से और घोर दुविधा की ओर मुड़ सकती है अगर यह प्रश्न खड़ा हो कि : क्या हम जगत् के ज्ञान के लिये बुद्धि पर – अनुमान और तर्क पर – भरोसा कर भी सकते हैं? क्योंकि न करने में भी गति नहीं दिखाई देती : जगत् का ऐसा ज्ञान जिसमें अनुमान और तर्क का स्थान ही न हो क्या उसे हम ज्ञान कह सकेंगे? ज्ञान के लिये यह टेढ़ा प्रश्न हो सकता है। बुद्धि के लिये उलझन की बात हो सकती है; पर बुद्धि पलती ही ऐसी उलझनों पर है। ऐसे विरोधों को पचा भी लेती है, या इन्हें अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति या माया कह कर विमर्श या आत्म-चेतना के द्रष्टा-भाव में अपने से अलग खड़ी हो जाती है। विमर्श की एक और ऊर्ध्वतर भूमि पर जा बैठती है, टूट कर बिखर नहीं जाती। बुद्धि के विरोध में धर्म-संकट जैसा तोड़ देने वाला संकट नहीं है जहां धर्म का कोई सा द्वार हम चुनें श्रेयस् की – धर्म के सत्य की – हानि फिर

भी होगी ही। बुद्धि के लिये विरोध में किसी न किसी समन्वय का मार्ग खुला रहता है जब कि धर्म-संकट में धर्म-च्युति से बच निकलना असम्भव लगता है। समन्वय न भी सम्भव हो तो भी बुद्धि के लिये ऐमा मोड़ नहीं आता कि जो भी दिशा लें सत्य की हानि होगी ही।

कहा जा सकता है कि धर्म में भी हम व्यवहार को भ्रान्ति कह कर संकल्प-शुद्धि की, या कर्म से निवृत्ति की ऊर्ध्वतर भूमि में शरण ले सकते हैं। ऐसा करने की परम्परा भी है। पर धर्म के क्षेत्र में – कुरुक्षेत्र के बीच खड़े हो कर – धर्मों ही के बीच उठे युद्ध के संकट को भ्रान्ति समझ लेना हमारे बोध के बस में नहीं होता। न्याय होगा तो अहिंसा नहीं रहेगी, दूसरे और भी सत्यों का हनन होगा – धर्म-चेतना से यह शल्य निकलता नहीं है। **महाभारत** की गवाही को मानें तो इस शल्य का बोध भी परम्परा में तीखा है।

पर **महाभारत** में ही – और मुझे लगता है कि शायद वहीं – धर्मों के बीच के अनिवार्य धर्म-संकट के समाधान का भी मार्ग ढूंढने का एक विलक्षण प्रयत्न है। यह मार्ग संकल्प-शुद्धि का या निवृत्ति का मार्ग नहीं है – हालांकि **महाभारत** में, **गीता** के उपदेश में, युद्ध-क्षेत्र पर ही, उस दिशा में भी मार्ग ढूंढे गये हैं। पर मैं यहां चर्चा 'परम धर्म' की कर रहा हूं। **गीता** में इसकी बात नहीं है। पर **महाभारत** में अन्यत्र परम धर्म की चर्चा बार-बार आई है। बराबर के धर्मों के बीच चयन करना ही, धर्मों को ही कसौटी पर कसना ही कि धर्म है या नहीं, परम धर्म एक तुला देता है। यक्ष-प्रश्न का प्रसंग तो प्रसिद्ध ही है जहां आनृशंस्य को परम धर्म कहा गया है। अहिंसा परमो धर्मः भी **महाभारत** का ही वाक्य है। अन्यत्र आचार या शिष्टाचार को भी परम धर्म कहा गया है। यहां प्रश्न सहज है कि जब इतने धर्मों को परम कहा गया है तो परम फिर क्या हुआ? **महाभारत** में इस प्रश्न की कोई व्यवस्थित या विशेष विमर्श के साथ चर्चा नहीं है जैसी **गीता** में संकल्प या निवृत्ति-मूलक धर्मों की है। पर एक प्रच्छन्न सी चर्चा देखी जा सकती है – एक अन्तःसलिल सा विवाद है जिसके भीतर से परम धर्म की धारणा उभर कर आती दिखाई देती है। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में एक विचार-सा किया गया लगता है, हालांकि प्रश्न की कोई स्पष्ट विवेचना नहीं है। फिर भी आधा-प्रकट सा रूप आगे आता है। धर्म क्या है, इसकी कई रूप में वहां चर्चा हुई है। जिस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर आनृशस्यं परो धर्मः कहते हैं उस प्रश्न में धर्म के विषय में दो भिन्न प्रश्न हैं। यक्ष के रूप में धर्म स्वयं पूछते हैं : लोक में परम धर्म क्या है? और, वह कौन सा धर्म है जो सदा फलवान् होता है? – कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्म सदाफलः? पहले का उत्तर है आनृशंस्य और दूसरे का त्रयी धर्म या वैदिक धर्म। भेद पते का है। अब की हमारी अपनी चर्चा को ध्यान में रखें तो धर्म-विषयक चिन्तन के दो सूत्र जिन्हें हम उभार चुके हैं उन सूत्रों की यहां छाया दिखाई देती है। लक्षणीय है कि आनृशंस्य को यहां 'लोक' का – आचरण-व्यवहार का परम धर्म बताया गया है। त्रयी धर्म को उससे अलग किया है। त्रयी धर्म यहां आचार या शिष्टाचार का ही दूसरा नाम है। त्रयी वेद को कहते हैं और त्रयी धर्म यहां वही धर्म

है जिसके लिये वेद को, अर्थतः वैदिक आचार को, प्रमाण माना जाता है। यह भी, जैसा हमने ऊपर **आपस्तम्ब** में देखा, धर्मशास्त्र की परम्परा में 'लोक' के लिये – व्यवहार के लिये – धर्म का आधार कहा गया है – **महाभारत** में अन्यत्र इसे इसी अर्थ में परम धर्म का नाम दिया भी गया है। स्पष्ट है कि युधिष्ठिर इस त्रयी धर्म को परम धर्म नहीं कहना चाहते। **धर्म-सूत्रों** में हमने देखा कि धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में देखने की बात तो है पर वहां यही स्वर ऊंचा है कि धर्म से इहलोक और परलोक में मीठा फल मिलता है। यक्ष-प्रसंग में शिष्टाचार को ही परम धर्म मानने की बात होती तो यक्ष अपने प्रश्न में सदा फल देने वाले धर्म में और परम धर्म में अन्तर नहीं करते। उनके मन में यह बात है कि फल के लिये किया गया धर्म परम धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। यही बोध युधिष्ठिर के उत्तर में है। धर्म के लिये धर्म करें तो उचित आचरण का प्रमाण शिष्टाचार नहीं हो सकता। उसमें दोष स्पष्ट हैं तभी साधारण धर्म की बात उठी है। पर साधारण धर्मों के अनेकान्त में ही धर्म-संकट का बीज भी स्पष्ट है। उन धर्मों को तुला पर तोल कर उन में से किसी एक को अन्य साधारण धर्मों की कसौटी के रूप में ठहराना हो तो किसे चुनना चाहिये? मुझे लगता है कि परम धर्म की जिज्ञासा करते हुए यक्ष के मन में यही प्रश्न है। उनके प्रश्न का हम यों खुलासा कर सकते हैं : व्यवहार के लिये धर्म के स्वतन्त्र पुरुषार्थ का क्या आधार हो? धर्मों के अनेकान्त में कौन सा धर्म आधार हो? इसी के उत्तर में वैदिक धर्म से इन्कार करते हुए – उसे धर्म के स्वतन्त्र पुरुषार्थ के क्षेत्र से बाहर करते हुए, क्योंकि वह फल के लिये किया जाता है – युधिष्ठिर उत्तर देते हैं : आनृशंस्य। अन्यत्र इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है : अहिंसा। यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में अगर हम उस श्लोक को भी प्रसंग-गत मानें जिसे आधुनिक विद्वान प्रक्षेप ठहराते हैं तो इसी प्रश्न का एक और उत्तर मिलता है : महाजनो येन गतः स पंथा।

प्रसंग की थोड़ी और थाह लें तो कुछ और भी साफ देख पायेंगे कि युधिष्ठिर के आगे धर्म के और भी आदर्श थे जिनमें से वे आनृशंस्य को चुनते हैं। यक्ष के पहले के ही कुछ प्रश्नों में एक प्रश्न है : जो सत् होते हैं, उनका धर्म क्या है – कश्च धर्मः सतामिव? 'सत्' के साथ मगर एक विशेषण जुड़ा हुआ है जो 'सत्' को एक वर्ण विशेष के साथ जोड़ता है और दूसरे दो प्रश्नों की अपेक्षा इस प्रश्न के सार्वजनीन भाव को संकीर्ण कर देता है। प्रश्न है कि जो सत्-ब्राह्मण हैं उनका धर्म क्या है। पर एक तरह से देखें तो 'सत्' के साथ जुड़े 'ब्राह्मण' विशेषण को अलग भी रख दिया जा सकता है। प्राचीन धारणाओं में सार्वजनीन धर्मों की चर्चा भी अक्सर समूह विशेष के नाम पर हुई है। यह बात भारत में ही नहीं अन्य संस्कृतियों में भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये अरस्तू की धर्म-चर्चा ग्रीक लोगों को ही धर्म का अधिकारी मान कर चलती है, दूसरों को नहीं, दूसरे तो दास होने के ही पात्र हैं। पर अरस्तू की चर्चा में जैसा सार्वजनीन भाव है वैसा यहां इस प्रश्न और इसके उत्तर में भी देखा जा सकता है। यहां भी तात्पर्य में धर्म के 'साधारण' भाव का स्पष्ट संकेत है। यों **महाभारत** के प्रश्न के संकीर्ण भाव को

हटा देने पर 'सत्' का अर्थ ब्राह्मण होने की सीमा से निकल जाता है और प्रश्न यही ठहरता है कि धर्म क्या है, क्योंकि सत्-जन का धर्म और साधारण रूप से मनुष्य मात्र का धर्म, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। पर प्रश्न के उत्तर को देखें तो पहली दृष्टि में वर्ण विशेष के अभिप्राय से ही दिया गया लग सकता है। प्रश्न का उत्तर है : यज्ञ। यज्ञ को सवर्णों का और उनमें भी विशेष कर ब्राह्मणों का धर्म कहा गया है। पर यज्ञ को जिस रूप में देखा गया है उसमें वर्ण-विशेष की केंचुल विलीन सी हो जाती है।

अब तक के दो प्रश्न परम धर्म और सदा फल देने वाले धर्म के बारे में थे। त्रयी या वेद के धर्म को सदा-फल धर्म कहा गया। पर यज्ञ भी तो त्रयी धर्म ही है। ब्राह्मण के लिये तो यज्ञ करना विशेष त्रयी धर्म है। और यज्ञ तो सदाफल माना ही गया है फिर यज्ञ को अलग से कहने का तात्पर्य क्या? तात्पर्य पर आयें तो स्पष्ट लगता है कि यहां यज्ञ का तात्पर्य यज्ञ के फल से नहीं एक ऐसे अंतरंग रूप से है जो जैमिनीय ब्राह्मण के यज्ञ से साम्य रखता है। यज्ञ के बारे में यक्ष पूछते हैं : यज्ञ का वह साम कौन सा है जिसे 'एक' साम कहा जा सके, वह यजु कौन सा है जिसे 'एक' यजु कहा जा सके, वह क्या है जो पूरे यज्ञ पर छाया रहता है, जिसका यज्ञ कभी अतिक्रमण नहीं करता? उत्तर है : प्राण यज्ञ का साम है, मन यजु है और वाक् यज्ञ पर छाई रहती है, यज्ञ उसका अतिक्रमण नहीं करता। प्रतीक-योजना का जैमिनीय ब्राह्मण से साम्य सामने ही है, हालांकि प्रतीकों के सम्बन्ध जैमिनीय की अपेक्षा अस्पष्ट हैं। पर स्पष्ट है कि यह यज्ञ अन्तर-यज्ञ है। वैसा यज्ञ नहीं जिसका फल से सम्बन्ध जोड़ा गया है। सत्-जन को यही अन्तर-यज्ञ करना चाहिये। इस यज्ञ के स्वरूप के बारे में एक और इंगित मिलता है। यक्ष युधिष्ठिर से सत् का – या सत् ब्राह्मण का – ही नहीं असत् ब्राह्मण का भी धर्म पूछते हैं : इस प्रयोग में 'धर्म' स्वभाव के अर्थ में आया है, इतिकर्त्तव्यता के अर्थ में नहीं, या यों कहें, इस अर्थ में आया है कि 'जो नहीं करना चाहिए वह करना' ही असत् का धर्म है। परित्याग को असत् का धर्म कहा गया है। परित्याग का आशय स्पष्ट नहीं है। किस का परित्याग? सन्दर्भ से लगता है, यज्ञ का परित्याग, यज्ञ न करना। आशय हो सकता है, यज्ञ-मार्ग का अस्वीकार, निवृत्ति की ओर झुकना या यज्ञ-भिन्न किसी और आदर्श की ओर प्रवृत्त होना। या फिर धर्म के अंतरंग यज्ञ-भाव को छोड़ते हुए केवल फल के लिये यज्ञ में प्रवृत्त होना। हम चाहें तो इस यज्ञ-धर्म को परम धर्म, आनृशंस्य, से भी जोड़ सकते हैं। आनृशंस्य धर्म का व्यवहार है, यज्ञ उसका अंतरंग परमार्थ।

पर यहां कई नये प्रश्न उठ खड़े होते हैं। आनृशंस्य है क्या? नया सा शब्द है, उसे **महाभारत** में किस अर्थ में लिया गया है? उसे परम धर्म कहने का तात्पर्य क्या? क्या आनृशंस्य या दूसरा कोई परम धर्म धर्म-संकट में सचमुच रास्ता दिखा सकता है? तो फिर गीता में आनृशंस्य या किसी और परम धर्म का उपदेश क्यों नहीं है? यों भी परम धर्म की धारणा कर्म के औचित्य में ही धर्मों के अनेकान्त को स्वीकार करती चलती है। लगता ही है कि कई धर्म हैं जो परम धर्म कहला सकते हैं। धर्म-संकट में जहां एक धर्म

बराबर के दूसरे धर्म को टिकने ही नहीं दे रहा हो वहां किसी धर्म को परम कह देने से क्या बात बन जायेगी? विरोधी धर्मों में संधि कराई जा सकेगी?

फिर एक बात और है। परम धर्म अपने मर्म में व्यवहार का धर्म है। आनृशंस्य को परम धर्म कहते हुए उसका 'लोक' से, लोक-व्यवहार से, सम्बन्ध जोड़ा ही गया है। उसका सम्बन्ध केवल धर्म के किसी स्वतन्त्र, आत्मस्थ संकल्प-शुद्धि के पुरुषार्थ से नहीं है। हमारे यहां व्यवहार को ही ध्यान में रखते हुए धर्म-अर्थ-काम को एक परस्पर-नद्ध त्रिपुटी के रूप में देखा गया है। धर्म का अर्थ और काम से सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करें तो और समस्याएं और संकट सामने आते हैं। वहां धर्म का और परम धर्म का क्या स्वरूप हो सकता है और होना चाहिये?

इन प्रश्नों पर भी विचार करना चाहता हूं। पर यहां बात बहुत खिंच गई है। अभी कलम रोकता हूं। इन प्रश्नों पर आगे विचार करूंगा।

क्रमशः

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर
302006

जैसी करनी वैसी भरनी

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

लोक-प्रसिद्ध है कि जो जैसा करेगा वह वैसा भरेगा। ऐसी लोक-प्रसिद्ध मान्यताएं एक ओर किसी वास्तविकता की ओर इंगित करती हैं तो दूसरी ओर वे व्यक्ति के कर्म तथा व्यवहार को दिशा देने का कार्य करती हैं। 'जैसी करनी वैसी भरनी' इस लोकोक्ति में कर्म तथा फल की संगति का कथन है। कठिनाई यह है कि आपाततः यह बुद्धिसंगत प्रतीत होते हुए भी कि कर्म तथा उसके फल में संगति होनी चाहिए, अनुभव बहुधा इसके विपरीत देखा जाता है। अन्य शब्दों में, अनुभव में कर्म तथा फल के बीच कभी संगति प्राप्त होती है, कभी नहीं। फलतः केवल अनुभव के आधार पर कर्म तथा फल के बीच संगति की वास्तविकता अथवा अनिवार्यता को निश्चित नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ में एक सुझाव यह दिया जाता है कि ऐसी मान्यता है कि एक आदर्श दण्ड-व्यवस्था है जो तब भी सक्रिय रहती है जब मानवीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और जिसमें विश्वास अव्यवस्था की संकटकालीन अवस्था में सन्मार्ग के त्याग से बचाता है। परन्तु यहाँ शंका होती है कि यदि ऐसी कोई दण्ड-व्यवस्था है तो उसकी पुष्टि किस प्रकार होती है? मानवीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर 'त्राहि माम, त्राहि माम' तो सर्वत्र सुनाई पड़ता है, परन्तु उस पुकार को कोई सुनता है, यह सन्दिग्ध ही रहता है। मानवीय व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने से तात्पर्य यह है कि समाज में दण्ड तथा न्याय का विखण्डन प्राप्त होता है, दुष्टों का वर्चस्व बढता है और सज्जन दुर्व्यवहार, पीड़ा तथा अत्याचार के शिकार होते हैं। जो न्याय के पालक होते हैं वे ही न्याय की रक्षा में बाधक बन जाते हैं। प्राकृतिक आपदाओं में तो विपत्ति का वज्रपात बच्चों, बूढ़ों, स्त्री-पुरुषों, दुष्टों तथा सज्जनों, पशुओं तथा मानवों पर समान रूप से होता है। पौराणिक कथाओं का आश्रय यदि नहीं लें (अतिशयोक्ति, कल्पनाविलास तथा अनैतिहासिक तत्त्वों के समावेश के कारण) तब तो इतना ही कहना ठीक लगता है कि कर्म तथा फल की संगति हमारी इच्छा की द्योतक है, हम चाहते हैं कि ऐसा हो, परन्तु ऐसा होगा इसकी कोई गारन्टी नहीं है। अन्य शब्दों में, 'भले कर्म का फल भला होगा' यह एक संश्लेषणात्मक कथन है, जैसा संकेत हमें कान्ट के विचारों से मिलता है।

दूसरी ओर यह बात युक्तियुक्त लगती है कि जो जैसा करे वैसा ही फल पाये। ऐसा क्यों लगता है? इस सन्दर्भ में दो भिन्न प्रकार की बातें प्रासंगिक लगती हैं : प्रथम तो कार्य-कारण सिद्धान्त, दूसरे, स्वयं कर्म का जीवनवृत्त।

यह बुद्धि की एक माँग है कि यदि घटनाओं की कोई बुद्धिग्राह्य व्याख्या हो सकती है तो उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध की भूमिका होनी चाहिए। ऐसे संसार की कल्पना में जिसमें कुछ भी सम्भव हो, अर्थात् किसी घटना के बाद कोई भी घटना हो जाये, बुद्धि की कोई गति नहीं हो सकती – ऐसे संसार में जो कुछ होता है उसके विषय में कोई भी संगत कथन नहीं किया जा सकता। इसमें भविष्य के विषय में पहले तो हमारी कोई अपेक्षा ही नहीं हो सकती और यदि हम भविष्य सम्बन्धी कोई कल्पना कर भी लें तो उसकी संभावना के विषय में कोई सार्थक कथन नहीं हो सकता। दिवास्वप्न एवं चमत्कार की अवधारणाएं इससे मिलते-जुलते संसारों के प्रारूपों की ओर इंगित करती हैं।

इसके विपरीत मानवीय व्यवहार बड़ी सीमा में इस अपेक्षा पर निर्भर है कि घटनाओं में परस्पर कोई सम्बन्ध होता है जिसे कार्यकारण के रूप में जाना जा सकता है तथा इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर ही 'कर्म की संभावना' को स्वीकार किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, व्यवस्था एवं संगठन की अवधारणा ज्ञान तथा कर्म के लिए समान रूप में महत्त्वपूर्ण है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि कार्य-कारण-सिद्धान्त संगठन तथा व्यवस्था में ऐकान्तिक अथवा एकमात्र महत्त्व की चीज़ नहीं है, ऐसी व्यवस्थाओं की कल्पना की गई है जिनमें कार्य-कारण की अवधारणा परिहार्य है।

ऐसा कहा गया है कि कार्यकारण की अनिवार्यता का कोई आनुभविक अथवा बौद्धिक आधार नहीं है। घटनाओं के किसी क्रम विशेष को अनेक बार देखने पर हमारा ध्यान एक घटना से दूसरी घटना की ओर सहसा ही चला जाता है और हम मान बैठते हैं कि एक घटना दूसरी का कारण है। (कोई कह सकता है कि हमारा ध्यान एक घटना से दूसरी की ओर इसलिये जाता है कि हमने पहली घटना को पहले ही कारण मान लिया है)। यह मत स्कॉटलैण्ड के दार्शनिक डेविड ह्यूम का कहा जाता है तथा विचारकों के लिए यह एक सबल चुनौती रहा है। बहुत पहले हमारे यहां आजीवकों ने इस सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखा था। अब यदि इस शंका के महत्त्व को मान भी लें, तब भी इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि विषय-ग्रहण के लिए बुद्धि की कुछ मांगों की पूर्त्ति आवश्यक है जिनमें संरचनात्मक घटक एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस बहस में जाये बिना, तथा कम से कम इतना स्वीकार कर लेने पर कि घटनाओं में किसी प्रकार का क्रम देखना सार्थक है, उसका आधार चाहे कुछ भी हो, कर्म के विषय में भी यह अपेक्षा रहती है कि कोई भी कर्म परिणाम के रूप में किसी स्थिति विशेष में परिसमाप्त होता है, कर्म के परिणाम तथा कर्म की शेष प्रक्रिया के बीच कोई सम्बन्ध होता है। इतना ही नहीं, यह सम्बन्ध किसी रूप में उपयुक्त सम्बन्ध भी होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस ढांचे में हम कर्म तथा परिणाम को दो अलग-अलग स्थितियों – 'कारण' तथा 'कार्य'— के रूपमें देख रहे हैं।

परन्तु यूं दोनों को अलग-अलग ग्रहण करने से क्या आशय है? हमने कहा कि परिणाम वह स्थिति है जिसमें कर्म की परिसमाप्ति होती है। यदि ऐसा है, तो क्या यह

कहना अधिक संगत नहीं होगा कि परिसमाप्ति तक जो कुछ होता है वह सब कर्म है? किसी व्यक्ति का इच्छा करना, संकल्प करना, विषय अथवा स्थिति विशेष (लक्ष्य) की प्राप्ति के निमित्त उद्यम करना, लक्ष्य को प्राप्त करना – ये सभी सोपान अथवा अवस्थाएं कर्म के जीवनवृत्त के क्रम को दर्शाती हैं और इस क्रम में ही परिणाम अन्तिम चरण है। इस रूप में कर्म तथा परिणाम का भेद वस्तुतः कर्म के अन्तर्गत ही पड़ेगा – कदाचित् 'कर्म' के स्थान पर केवल 'प्रक्रिया' कहना अधिक उचित होगा – प्रक्रिया तथा परिणाम कर्म के दो अंग होंगे जिनमें कारण तथा कार्य की संगति के सन्दर्भ में प्रक्रिया तथा परिणाम की संगति की चर्चा करना कदाचित् अधिक युक्तिसंगत होगा।

संभव है प्रबुद्ध पाठक यहां कहें कि कर्म-फल की संगति तथा प्रक्रिया-परिणाम की संगति अभिन्न नहीं हैं। इस आपत्ति को हम एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। क ख पर चाकू से वार करता है। ख मर जाता है। क को पकड़ा जाता है। उसे दण्ड मिलता है – आजीवन कारावास। 'क का चाकू मारना' तथा 'ख का मरना' कारण तथा कार्य और साथ ही प्रक्रिया तथा परिणाम के रूप में देखे जा सकते हैं। ऐसे प्रसंग में 'ख का मरना' नहीं अपितु 'आजीवन कारावास' कर्म का फल कहा जायगा। 'परिणाम' शब्द में द्व्यर्थकता है– उससे 'कार्य' तथा 'फल' दोनों का आशय लिया जा सकता है। वस्तुतः 'फल' के प्रयोग में भी एकार्थकता नहीं है। जहां 'कारावास' फल है वहाँ इस प्रकार 'दुःख पाना' भी फल है। बहुधा 'फल' का प्रयोग 'दुःख', 'सुख' के अर्थ में भी होता है। स्मरण रहे 'दुःख', 'सुख' जैसे शब्दों के प्रयोग में केवल शारीरिक संवेद अथवा मानसिक अनुभव का ही समावेश नहीं होता अपितु वह स्थिति विशेष भी इंगित होती है जिसे भुगतने के रूप में ये अनुभूतियाँ होती हैं।

उदाहरण पर आगे विचार करें। सम्भव है क का इरादा ख की हत्या करना नहीं था, वह तीव्र क्रोध में था, उसके हाथ में चाकू था, क्रोध में उसने चाकू ख पर फेंका। ऐसी अवस्था में कर्म के उद्देश्य तथा उसके घटे परिणाम में भेद करना होगा। क्रोध की अभिव्यक्ति, अहंता की अभिव्यक्ति, शक्ति का प्रदर्शन आदि एक अथवा अनेक रूप में कर्म के प्रेरक हो सकते हैं। कहा जायेगा कि किसी पर चाकू फेंक कर आघात करना उसे जान से मारना जैसा ही है, और यह बोध क को रहा होगा। यहाँ विचार का लक्ष्य क की विशिष्ट इच्छा को जानना नहीं है, केवल इस संभावना को समक्ष रखना है कि कर्म का लक्ष्य उसका कार्य, उसका परिणाम तथा तथाकथित फल परस्पर बहुत भिन्न हो सकते हैं और इन सबमें भी अन्तर करने की आवश्यकता रहती है। स्थिति इससे अधिक जटिल है। कर्म-फल की संगति की दृष्टि से यदि क को न्यायिक रूपमें दोषी पाया जाय और उसे उपयुक्त दण्ड मिले तो यह तो ठीक ही प्रतीत होगा। परन्तु यदि क विवाहित हो, उसके बच्चे हों, तो प्रश्न उठ सकता है कि उसकी पत्नी तथा बच्चों को उनके किस कर्म का फल मिला? वे हत्यारे के परिवार के सदस्य कहलायेंगे, उनके जीवन-यापन पर संकट आयेगा, बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा – इस सबको

उनके किस कर्म से जोड़ा जाय? इसी प्रकार के प्रश्न उस परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में भी उठते हैं जिसके व्यक्ति की हत्या हुई है। इस स्थिति के ये दूसरे पक्ष कर्म-फल-संगति पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से अनेक उलझनों की ओर ध्यान जाता है। जैसा हमने नोट किया, प्रथम तो कार्य, परिणाम तथा फल की अवधारणाओं के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्ध की समस्या, फिर, सामान्यतया कर्म तथा फल की एक ऐसी कड़ी तक ध्यान का सीमित होना जिसे एक सरल तथा एक-रेखीय रूप में देखा जाता है, घटनाओं के सामाजिक संदर्भ, कारण तथा हेतु का प्रश्न, आदि। दूसरे, जिन अवस्थाओं में फल तथा कर्म की संगति व्यक्त नहीं होती उनकी उपयुक्त व्याख्या की समस्या भी सामने आती है।

इन प्रश्नों के आलोक में एक बार पुनः कर्म के जीवनवृत्त पर दृष्टि डालें। हमने कर्म की विभिन्न अवस्थाओं को निम्नलिखित रूप में लिया :

इच्छा, संकल्प या निश्चय, उद्यम, परिणाम (उद्दिष्ट परिणाम अथवा अनुद्दिष्ट परिणाम।)

विश्लेषण की दृष्टि से कर्म के रूप का यह बड़ा सीधा-सादा तथा स्पष्ट चित्रण मालूम पड़ता है। दुर्भाग्य से ऐसा नहीं है। यह सरलता अपर्याप्त विश्लेषण का फल है तथा व्यवहार में सामान्यतया हम अधिक जटिलताओं में नहीं जाते। परन्तु प्रश्न यह है कि यह हमें सरल क्यों लगता है तथा यदि इसमें जटिलताएं हैं तो वे किस प्रकार की तथा क्या हैं?

सर्वप्रथम 'इच्छा' को लें। 'इच्छा' जहां एक क्रम का आरम्भ है वहां वह किसी अन्य क्रम का कार्य भी है। किसी कर्म विशेष को किसी अन्य कर्म से अलग करने के प्रयास में उसे किसी इच्छा विशेष से जोड़ा जाता है। 'इच्छा' की विशद समझ के निमित्त न्यायिक सन्दर्भ में कर्म की प्रेरणा तथा कर्त्ता के उद्देश्य को ले सकते हैं। कर्त्ता में कर्म की प्रेरणा कैसी होती है? इसका कोई सीधा उत्तर नहीं है। जैव आवश्यकताएं, उद्दीपन, स्वभाव इत्यादि अनेक पक्षों की ओर संकेत किया जाता है। व्यक्ति जिस समाज में है, जिस युग-देश में है, जिस सांस्कृतिक परिवेश में है उसे समझने से 'इच्छा' की समझ बढ़ती है। इस प्रकार के सन्दर्भ उस अवस्था में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जब हम इच्छा-पूर्त्ति तथा उसके साधन पर कर्त्ता के विचार-विमर्श तथा अन्ततः उसके निश्चय पर ध्यान देते हैं। इसी सन्दर्भ में कर्म के आन्तरिक इतिहास की बात भी की जा सकती है जिसे परोक्ष रूप में जाना-समझा जा सकता है। जब 'उद्यम' के विषय में विचार करते हैं तो साधारणतया कर्त्ता की शारीरिक गति तथा मुद्रा की ओर ध्यान जाता है। परन्तु उद्यम की आवश्यक तथा पर्याप्त अवस्थाओं पर विचार करें तो पता चलेगा कि हम बहुत कुछ मानकर भी चलते हैं। बहुत कुछ ऐसा होता है जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता और जिसके बिना उद्यम संभव नहीं हो सकता। इन अवस्थाओं में गुरुत्वाकर्षण, देश-काल, शरीर की स्वस्थास्वस्थ अवस्था, शरीरांगों की परिपक्वता, प्रशिक्षण (औपचारिक, अनौपचारिक), अभ्यास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बाधाएं अथवा सुविधाएं जैसी अनेक बातें आती हैं। महत्त्वपूर्ण

बात यह है कि 'उद्यम' एक बृहत् तथा व्यापक सन्दर्भ का अंग बने बिना सम्भव नहीं हो सकता। तत्पश्चात् जब 'परिणाम' के विषय में सोचते हैं तो पता चलता है कि 'परिणाम' को नाम दिया जाना उस व्यक्ति तथा दृष्टि पर आश्रित है जिससे तथा जिसके द्वारा वह लक्षित हो। इस रूप में परिणाम कोई सरल और एक स्थिति नहीं है अपितु वह अनेक आयामों से युक्त स्थिति है जिसे उसके किसी एक या एक से अधिक आयामों के आधार पर नाम दिया जा सकता है। और जैसा पाठक लक्ष्य करेंगे, नाम देना एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है तथा उसमें हमारी परम्परा, सामाजिक संरचना, विश्वासों तथा मूल्यों का समावेश रहता है।

इस अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन से यह लगता है कि कर्म को एक सरल एक-रेखीय शृंखला में ही देखना उसके अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों की अवहेलना करना है। व्यक्ति का दायित्व, कर्म-फल और परिवेश में परिवर्तन लाने की सामर्थ्य की सीमा – इन सभी के विषय में जो अनेक विवाद हैं कदाचित् उनकी तह में कर्म को सरलीकृत रूप में देखना तथा उसे एक पूरे तन्त्र के अंग के रूप में देखना – ये दो दृष्टियां विद्यमान हैं। दोनों का सम्बन्ध दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं से जुड़ा लगता है। जब हम कर्म को एक सरल शृंखला के रूप में देखते हैं तब हमारा लक्ष्य व्यक्ति के दायित्व को निश्चित करना होता है। समाज में दण्ड या न्याय-व्यवस्था को सुरक्षित रखने तथा व्यक्ति के कर्म की समीक्षा के निमित्त यह आवश्यक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में हमारे सामने एक व्यावहारिक समस्या होती है – हमें किसी निश्चय पर पहुंचना होता है, कोई निर्णय लेना होता है। मुख्य रूप में हमारे सामने प्रश्न होता है 'किसने किया?' इस सोच-विचार में यह निहित है कि व्यक्ति एक समर्थ कर्त्ता है, वह यदि चाहता तो जो उसने किया उसे वह नहीं भी कर सकता था, वस्तुतः उसने जो किया वह उसे नहीं करना चाहिए था। हम यह मानकर चलते हैं कि उसने जो किया उसका आरम्भ एक निश्चित इच्छा अथवा प्रेरणा थी और इस प्रसंग में इससे परे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना उसके कर्तृत्त्व को निश्चित करने के लिए पर्याप्त है और निश्चित आधार पर हम व्यक्ति को उसके किये के लिए उपयुक्त दण्ड देने का विधान करते हैं।

दूसरी ओर, जब हम कर्म को 'समझना' चाहते हैं, जब सम्बन्धित कर्म-फल की संगति के अपवाद सामने आते हैं, तब हम व्यक्ति-मूलक प्रणाली को छोड़कर समष्टि-मूलक प्रणाली को अपनाते हैं। कर्म को समझने के लिए हम स्वभाव, आदत, तात्कालिक परिस्थिति, व्यक्ति का सांस्कृतिक परिवेश तथा अनेक दूसरे पहलुआं पर सोचते हैं जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस सन्दर्भ में, व्यक्ति जो करता है तथा जो उसे कर्म के परिणाम के रूप में प्राप्त होता है उनमें बहुधा कोई संगति नहीं लगती। हमारी बुद्धि को यह स्थिति ग्राह्य नहीं लगती। हमें यह ठीक नहीं लगता कि जो हमने न किया हो (विशेषकर जब परिणाम कष्टकारी हों!) उसका फल हमें मिले तथा जो किया हो उसका कोई उपयुक्त फल न मिले। अनुपलब्ध सम्बन्ध को संगत सम्बन्ध के रूप में देखने की

दृष्टि से हमारी संस्कृति में 'जन्म-जन्मान्तर' की कल्पना हुई, 'अदृष्ट' तथा 'अपूर्व' की अवधारणाएं प्रस्तुत की गईं। कदाचित् हमारे मनीषियों को यह प्रतीत हुआ कि किसी व्यवस्था के अभाव में जीवन की कल्पना ही कैसे होगी? व्यवस्था तो मूलतः न्याय, औचित्य की रक्षा करती है। अपनी परिसीमा के कारण जब लोग स्वयं किसी व्यवस्था को स्थापित करने तथा उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहते हैं तो यह वैश्व मूल-व्यवस्था सक्रिय होती है तथा दैवी दण्ड-विधान समाज की स्थिति तथा स्थिरता की रक्षा करता है, धर्म पुनः स्थापित होता है। मानव-समाज में जब अव्यवस्था होती है, कर्म तथा फल के बीच कोई रिश्ता नहीं रहता, वहां वस्तुतः दैवी विधान ही सक्रिय होता है। वस्तुतः असंगति मानवीय प्रत्यक्ष तथा समझ में प्रतीत होती है और वह इसलिए कि हम पूरी शृंखला तथा पूर्ण तन्त्र को देखने में असमर्थ होते हैं। यदि कोई पूरी शृंखला एवं पूर्ण तन्त्र को देख पाता, यदि कोई जन्म-जन्मान्तरों में फैले सारे जीवन का गणित कर पाता तो वह यह देख पाता कि मूलतः व्यक्ति ही अपने सारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के लिए उत्तरदायी है। एक जन्म में जो असंगत लगता है, एक से अधिक जन्मों को देख पाने पर उसकी संगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

परन्तु बहुत लोग जन्म-जन्मान्तर तथा अदृष्ट को बीच में लाना पसन्द नहीं करेंगे। वे कह सकते हैं कि मानवीय सम्बन्धों में, मानव के क्रिया-कलाप तथा उसके परिणामों के बीच किसी संगति को न तो पाया जा सकता है और न स्थापित किया जा सकता है। इसलिए असंगति की समस्या कोई वास्तविक समस्या नहीं है। यह तरीका समस्या का समाधान नहीं उससे नज़रें बचाना है। क्योंकि समस्याएं तो हैं, अतः इस दृष्टि को तो छोड़ना ही होगा। तब फिर कर्म-फल की असंगति को कैसे समझा जाय?

क की पत्नी तथा बच्चे हत्या के लिए उत्तरदायी नहीं हैं तो वे उसका दण्ड क्यों भोगें? शायद यहां यह कहा जाय कि वे पत्नी तथा बच्चे नहीं होते तो उन्हें दण्ड नहीं भोगना पड़ता। परन्तु उनका इन विशिष्ट भूमिकाओं में होना क्या उनके अपने संकल्प का परिणाम है? कदाचित् किन्हीं अवस्थाओं में 'पत्नी' के लिए यह कहना ठीक हो, परन्तु क्या बच्चों के लिए भी ऐसा कहना ठीक होगा? शायद यहाँ यह कहा जाय कि जिस समाज में क सदस्य था उसकी संरचना में ही ये सम्बन्ध अन्तर्निहित होते हैं तथा इन सम्बन्धों का विशेष प्रकार का होना समाज के सदस्य के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है। यदि ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें क को कारावास मिलने पर पत्नी तथा बच्चों की देखभाल समाज के अन्य सदस्यों का दायित्व होती अथवा उनके लिए ऐसी ही कोई व्यवस्था होती तो स्पष्टतया वहाँ उनके लिए भिन्न परिणाम तथा फल होते (कदाचित् अधिक संगत)। परन्तु हमारे समाज में, अथवा ऐसे ही किसी समाज में जहाँ क के किये का फल अन्यों को भी भुगतना पड़ता है, वहाँ एक स्थिति यह भी होती है कि बीवी-बच्चों का प्यार क को उसके अविवेकपूर्ण कृत्य से बचा लेता है। या, दूसरों को इस प्रकार की घटना से सबक लेना चाहिए और यदि उन्हें अपने बीवी-बच्चों से प्यार है तो उन्हें ऐसे

अविवेकपूर्ण कृत्यों से बचना चाहिए। अन्य शब्दों में, यदि बीवी-बच्चों ने ऐसा कुछ नहीं किया जिसके लिए उन्हें क के किये के फल के दुष्परिणाम सहने पड़ें, उनका एक विशेष सामाजिक संरचना का अंग होना उनकी विपत्ति अथवा विशिष्ट स्थिति का कारण होता है।

जिस प्रकार दैवी अथवा प्रच्छन्न व्यवस्था को न जानने पर हमें कर्म-फल की संगति अप्राप्य होती है उसी प्रकार समाज की संरचना को न समझने के कारण हम उसे नहीं देख पाते – दोनों ही अवस्थाओं में कर्म तथा फल का कोई सीधा सम्बन्ध हो अथवा वह किसी सरल रेखा का अंग हो यह आवश्यक नहीं है। हमने यह देखा कि समाज की ऐसी संरचना की कल्पना संभव है जिसमें यह सम्बन्ध अधिक निकट का हो। ऐसे सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य होता है कि जिन विचारकों ने न्याय तथा दण्ड की उस व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें अपराधी का बहिष्कार नहीं किया जाता अपितु उसके साथ लगभग उसी प्रकार का व्यवहार होता है जैसा रुग्ण व्यक्तियों के साथ, वे वस्तुतः ऐसी सामाजिक संरचना को प्रस्तुत करते हैं जिसमें कर्मफल की संगति अधिक तर्कसंगत रूप में प्राप्त होती है।

इस विवेचन में जिन दो दृष्टियों की बात की गई है वे **महाभारत** के मनीषियों के लिए अलग-अलग नहीं थीं। 'शान्तिपर्व' में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि राजा तथा राज्य इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि सारी सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है। राजा के कर्त्तव्य-निर्वाह के अभाव में न केवल सारी व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती है अपितु प्राकृतिक घटनाएं भी अनियमित हो जाती हैं। वर्षा तथा ऋतु-चक्र मानव-जीवन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। जीवन कल्याणमय तथा समृद्ध हो इसके साथ ऋतुओं का सहयोग अथवा उनकी अनुकूलता अति आवश्यक है। ऐसा लगता है कि समस्त चराचर जगत् की एक अखण्ड कल्पना तथा उसके आधार में एक न्यायिक व्यवस्था मानवीय समाज एवं व्यापार की समझ में आधारभूत स्थान रखती है। राजा का कर्त्तव्य न केवल दण्ड-नीति द्वारा दुष्टों को दण्ड देकर मर्यादा को स्थापित करना था अपितु सभी वर्णों के लोगों की रक्षा करना भी था। इसमें पूर्वापेक्षा यह लगती है कि यदि सभी सदस्य अपना-अपना कर्त्तव्य शास्त्रविहित रूप में नहीं निभायेंगे तथा एक-दूसरे के धर्म-क्षेत्रों में हस्तक्षेप करेंगे तो ऐसी अव्यवस्था जन्म लेगी जिसमें कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि नहीं कर सकेगा। व्यक्ति का कल्याण तथा एक निश्चित सामाजिक संरचना परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर राजा तथा ऊर्ध्वलोक में देवता इस संरचना की रक्षा करते हैं।

यह कल्पना बड़ी मोहक है, परन्तु फिर यह प्रश्न उठता है कि किसी भी समय समाज में विघटन आरम्भ ही कैसे हुआ? यहाँ **महाभारत** का सन्दर्भ देकर हमारा उद्देश्य **महाभारत** के मनीषियों के विचारों की मीमांसा करना नहीं है अपितु केवल इस ओर ध्यान आकर्षित

करना है कि कर्म-फल-संगति का प्रश्न सामाजिक संरचना के प्रश्न के साथ गहरे रूप में सम्बद्ध है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कर्म-फल-संगति के विषय में हमें असन्तोष इस कारण से होता है कि हम पहले तो कर्म को एक ऐसी शृंखला के रूप में देखते हैं जिसका एक निश्चित क्रम है, जिसका आदि है तथा एक निश्चित अन्त है। दूसरे, इस शृंखला को हम एक अन्य शृंखला – कारण-कार्य की शृंखला – के उदाहरण के रूप में ले लेते हैं जहां हम साधारणतया दो घटनाओं में सीधे एक निश्चित सम्बन्ध मान बैठते हैं। हमारा ध्यान इस बात से हट जाता है कि चाहे वह कर्म हो अथवा फल, कारण हो अथवा कार्य, एक घटना के रूप में उसके विविध आयाम होते हैं तथा सम्बन्धों की अनेक आयामी दिशाएं सारी स्थिति को एक सीधी रेखा नहीं, अपितु एक जाल की शक्ल देते हैं। दायित्व तथा व्यवस्था की आवश्यकताएं हमें अपकर्षण के लिए बाध्य करती हैं। इसके अतिरिक्त, इस प्रसंग में 'कार्य', 'परिणाम', तथा 'फल' में अन्तर करने की भी आवश्यकता है। घटना के रूप में किसी कर्म का होना किसी अन्य घटना अथवा कार्य का पूर्वगामी होगा। परन्तु सामाजिक तथा मानवीय सन्दर्भ में ये घटनाएं केवल प्राकृतिक चिह्न न रखकर अर्थवान् रूप ले लेती हैं। अर्थारोपण की प्रक्रियाएं ही सारी स्थिति को जटिल बनाती तथा अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म देती है।

इस संक्षिप्त विवेचन से हम किसी सन्तोषजनक समाधान पर तो नहीं पहुंच पाये किन्तु परस्पर मानवीय सम्बन्धों में बहतर समझ तथा सहिष्णुता की संभावना की ओर तो हमारा ध्यान आकर्षित होता ही है।

(टिप्पणी – **जिनवाणी** में लेखक द्वारा प्रकाशित लेख का परिवर्धित रूप।)

आर 6, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-302004

ह्यूम और सौत्रांतिक बौद्धों की कार्यकारणभाव विषयक मतभिन्नता

नारायण शास्त्री द्राविड़

पश्चिमी दार्शनिकों में ह्यूम के तत्त्वमीमांसीय तथा ज्ञानमीमांसीय विचार भारत के बौद्ध(सौत्रांतिक) दार्शनिकों के एतत्सम्बन्धी विचारों से इतने मिलते-जुलते हैं कि ह्यूम का उल्लेख किया जाने पर बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति, ज्ञानश्री आदि की हठात् याद आ जाती है। जैसे ह्यूम संवेदवादी हैं वैसे ही बौद्ध भी संवेदवादी हैं। बौद्ध अन्य वेदांतेतर दर्शनों के द्वारा पुरस्कृत सविकल्पक ज्ञान की प्रमाणता स्वीकार नहीं करते। केवल निर्विकल्पक ज्ञान, जिसका विषय कल्पनापोढ़, शब्दागम्य तथा स्वलक्षण एवं क्षणिक पदार्थ हुआ करता है और जिसे बौद्ध प्रत्यक्ष की संज्ञा देते हैं वही उनके लिए एकमेव प्रमाण होता है। इस ज्ञान को हम 'संवेद' भी कह सकते हैं। ह्यूम भी संवेद को ही स्वीकार करता है, सविकल्पक ज्ञान को वह संवेदों की प्रति-कृति मानता है। लेकिन संवेद और संवेद्य यह भेद ह्यूम को मान्य हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। यदि संवेद्य वस्तु संवेद से अतिरिक्त हो तो उसकी सत्ता का स्वरूप क्या होगा इस सम्बन्ध में ह्यूम ने ठीक तरह विचार किया हो ऐसा नहीं लगता। ह्यूम के अनुभववाद के अर्वाचीन संस्करण तार्किक भाववाद के पुरस्कर्ता रसेल, ब्रॉड, एयर जैसे दार्शनिक भी संवेद और संवेद्य के फर्क को तर्कसंगत ढंग से समझा नहीं पाये हैं। बौद्धों की भूमिका इस सम्बन्ध में सुस्पष्ट है। वे संवेद और संवेद्य इन दोनों को स्वलक्षण तथा क्षणिक मानते हुए भी इनको एक-दूसरे से बिल्कुल अलग स्वीकार करते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें कुछ तार्किक कठिनाइयों का अवश्य सामना करना पड़ता है। जैसे संवेद और संवेद्य दोनों क्षणिक होने से इन दोनों को समकालिक ही होना होगा लेकिन ज्ञान और उसका विषय पूर्णतया समकालिक नहीं हो सकते। विषय-वस्तु का ज्ञान एक क्षण पूर्व उपस्थित रहना अनिवार्यतया आवश्यक है। किन्तु यदि विषय अपने ज्ञान का पूर्ववर्ती हो तो वह उसका समकालिक नहीं हो सकता। इस कठिनाई का निवारण करने के लिए बौद्ध कहते हैं कि पूर्वक्षणवर्ती विषय उत्तरक्षणवर्ती अपने संवेद रूप ज्ञान में अपने आकार को उत्कीर्ण करता है जिसे आत्मासंवेदी संवेद ग्रहण करता है। ह्यूम ने संवेद और संवेद्य के सम्बन्ध की विशेष चर्चा ही नहीं की है। इस एक बात को छोड़ दें तो ह्यूम और सौत्रांतिकों की तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसाओं में बहुत साम्य है, ऐसा कह सकते हैं।

इस साम्य के बावजूद एक वैषम्य जो अतीव विस्मयजनक है ह्यूम और सौत्रांतिकों के कार्यकारण-भाव विषयक सिद्धान्तों में दिखाई पड़ता है। पश्चिमी दर्शन-परम्परा में ह्यूम के कार्यकारणभाव-विरोधी तर्कों ने, जो बहुत सीधे-सादे प्रतीत होते हैं, एक तहलका-सा मचा

दिया था। सदियां बीत जाने पर भी इन तर्कों का संतोषदायक उत्तर दार्शनिक लोग दे पाये हैं ऐसा आज के अनेक विचारक नहीं मानते। सुप्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक क्वाइन कहते हैं कि यह ह्यूमीय वैचारिक कठिनाई वास्तव में मानवीय विचार की ही कठिनाई है (दि ह्यूमीय प्रिडिकामेंट इज़ ह्यूमन प्रिडिकामेंट)। कार्यकारणभाव का संप्रत्यय सभी शास्त्रीय विचारों, संशोधनों तथा सिद्धान्तों का आधार है। यदि यही संप्रत्यय निराधार या कपोलकल्पित सिद्ध हो जाय तो सभी शास्त्रीय चिन्तन अर्थशून्य हो जायेगा। इस कारण कांट ने अपनी **शुद्धबुद्धि-मीमांसा** नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रारम्भ में ही कार्यकारणभाव संप्रत्यय की वैधता तथा सर्वविध अनुभवाधारता को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न सफल हुआ है ऐसा अनेक आधुनिक विचारक नहीं मानते। लेकिन बौद्ध कार्यकारणभाव का खंडन तो करते ही नहीं, उसे वे अपने समग्र दार्शनिक ढांचे का आधार-स्तम्भ ही मानते हैं। यह बात सौत्रांतिक संप्रदाय के बौद्धों को (जिनके विचार ह्यूम के विचारों से मिलते-जुलते हैं) ही लागू होती है ऐसी बात नहीं है। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार तथा माध्यमिक ये बौद्ध दर्शन के चारों संप्रदाय कार्यकारणभाव को - जिसके लिए बौद्ध दर्शन में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' यह पारिभाषिक संज्ञा प्रयुक्त होती है - अपने दार्शनिक चिंतन का प्रमुख आधार मानते हैं। माध्यमिकों ने अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का खंडन करने के लिए भी प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा का ही उपयोग किया है। अतः प्रथम यह देखना आवश्यक है कि प्रतीत्यसमुत्पाद या कार्यकारणभाव का स्वीकार बौद्ध सिद्धान्तों के लिए क्यों आवश्यक है? 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ "कारण (या करण) के पूर्व क्षण में रहते उत्तर क्षण में नियमतः कार्य का उत्पन्न होना" यह है। कार्य और कारण दोनों क्षणिक होने से ये एकसाथ न उत्पन्न हो सकते हैं न रह सकते हैं। अन्य मतों में कार्य और कारण का साहचर्य संभव है। यही नहीं, उपादान कारण तथा असमवायि कारण का कार्य के साथ साहचर्य आवश्यक भी है। निमित्त कारण कार्योत्पत्ति होते ही नष्ट हो सकता है लेकिन उसका नष्ट होना कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक (अन्य मतानुसार) कदापि नहीं हो सकता। बौद्धों के अनुसार कारण का कार्य के पूर्व होना और कार्य के साथ न होना यह कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक है। इस कारण बौद्धों को 'वैनाशिक' कहा जाता है। यदि कार्य और कारण के बीच उक्त पूर्वापरभाव-रूप सम्बन्ध न हो तो क्षणभंगुर पदार्थों की परंपरा में एकता की प्रतीति कैसे हो? उदाहरण के तौर पर सम्मुख उपस्थित घट जैसी किसी स्थिर प्रतीत होने वाली वस्तु को लें। काफी समय तक देखते रहने पर भी इस वस्तु में कोई परिवर्तन दृग्गोचर नहीं होता। बौद्धमतानुसार स्थिर प्रतीत होने वाली वस्तु क्षणभंगुर वस्तुओं की परंपरामात्र है। इस परंपरा के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणभंगुर वस्तु अपने पूर्व क्षण में उत्पन्न सदृश वस्तु का कार्य और अपने उत्तर क्षण में उत्पन्न होने वाली वस्तु का कारण होती है। इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भावापन्न होने से ही क्षणिक वस्तु-परम्परा में एकत्व (और तज्जनित स्थिरता) का आभास होता है। अनुमान के लिए भी कार्य-कारण-भाव को बौद्धों ने एक प्रमुख आधार माना है। अनुमेय और अनुमापक इनका जो व्याप्ति-सम्बन्ध होता है उसके

आधार बौद्धमतानुसार कार्य-कारण-भाव तथा तादात्म्य ये दो ही हो सकते हैं क्योंकि ये दो ही अनिवार्यतया वस्तुओं को एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं। अन्य सम्बन्धों से घटित होने वाला साहचर्य नियत नहीं होता। इस प्रकार सभी विकल्पाधिष्ठित व्यवहारों के लिए कार्यकारणभाव का स्वीकार आवश्यक है और वह सत्य है। उसे काल्पनिक या सहजप्रवृत्तिमूलक या उत्प्रेक्षात्मक मानना उचित नहीं है। ह्यूम का मत ठीक इसके विपरीत है। वह कार्यकारणभाव को वस्तुओं पर आरोपित मानता है। ऐसा मानने का उसका कारण यह है कि कार्यकारणभाव-घटक जो अनिवार्यता है उसका प्रत्यक्ष या अनुमान से ज्ञान नहीं होता जिससे उसके वास्तविक स्वरूप का आकलन संभव हो। कार्यकारण-सम्बन्ध की अनिवार्यता का प्रत्याख्यान करने के लिए ह्यूम ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं। पहला कार्य-कारण के परस्पर भेद पर आधारित है। दूसरे प्रकार का कारण अनिवार्यता के ज्ञान की असंभावना पर आधारित है। इनमें से दूसरा तर्क सही भी हो तो भी यदि पहला तर्क सही न हो तो कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा सकता है। यदि दो या अधिक वस्तुओं के बीच अनिवार्य पूर्वापरभाव का होना तर्कतः असंभव न हो तो उन्हें कार्यकारणभावापन्न माना जा सकता है भले ही अनिवार्यता जान पाना हमारे लिए असंभव हो। यहां हम पहले तर्क की ही विशेष चर्चा करेंगे। दूसरे प्रकार के तर्क की चर्चा आगम रूप अनुमान से सम्बन्धित है। आगम या सामान्यीकरण की प्रक्रिया कहां तक वैध है यह प्रश्न संवेदवादी तथा अन्य प्रकार के दर्शनों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसका विस्तृत विचार ह्यूम तथा बौद्धों के दर्शन के विचार के संदर्भ में विशेष प्रासंगिक नहीं है।

कार्यकारण-सम्बन्ध अनिवार्य क्यों नहीं हो सकता यह प्रमाणित करने के लिए ह्यूम ने जो तर्क उपस्थित किये हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं –

1. वस्तुओं के आंतरिक प्रातिस्विक स्वरूप का हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं होता जिसके आधार पर हम निश्चय कर सकें कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु की अनिवार्यतः कारण है या होनी चाहिये। जैसे हम रोटी भूख मिटाने तथा शरीर के पोषण के लिए खाते हैं। रोटी खाने पर ये दोनों बातें प्रायः घटित होती हैं। ऐसा शायद ही होता है कि रोटी खाने पर शरीर पुष्ट होने के बदले बीमार पड़ जाय। लेकिन प्रसंगविशेष में रोटी खाने से अनपेक्षित परिणाम भी घटित होते दिखाई देते हैं। इन अनपेक्षित परिणामों की उपेक्षा कर हम मान लेते हैं कि रोटी खाना शरीर-पुष्टि का कारक है। इस पर यदि कोई पूछे कि 'रोटी में ऐसी क्या बात है जिसके शरीर में प्रवेश करने से शरीर पुष्ट होता है?' तो इस प्रश्न का कोई शरीरविज्ञान का जानकार ही संतोषजनक उत्तर दे सकता है। सामान्य मनुष्य रोटी के आन्तरिक गुण-धर्मों को ठीक तरह नहीं जानता। लेकिन एक वैज्ञानिक भी यह नहीं बता सकता कि रोटी की कोई विशेषता या गुण (जो उसने ढूंढ निकाला हो) शरीर की मांसपेशियों को क्यों पुष्ट करता है? इस पर वैज्ञानिक अधिक गइराई में जाकर स्पष्टीकरण कर सकता है कि शरीर के पुष्ट्यर्थ अपेक्षित रुधिराभिसरण, पाचन आदि प्रक्रियायें रोटी के खाने से शरीर में उत्तेजित होने वाली जीव-रासायनिक प्रक्रियाओं के

कारण घटित होती हैं। लेकिन इन जीवरासायनिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में भी पूछा जा सकता है कि इनके उत्तेजित होने से द्रुत रुधराभिसरण आदि प्रक्रियायें क्यों घटित होती हैं। इस प्रश्न से लक्षित कठिनाई को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं —

यदि क ख का कारण माना जाता है तो इसका वास्तविक कारण यह है कि क $क_1$ से युक्त है और $क_1$ $ख_1$ को जन्म देता है जो ख से अनिवार्यतया सहकृत होता है। लेकिन $क_1$ $ख_1$ को इसलिए जन्म देता है कि $क_1$ $क_2$ से युक्त है जो $ख_2$ को जन्म देता है। यह परंपरा कभी समाप्त नहीं हो सकती। जहां भी इस स्पष्टीकरण के क्रम में हमें रुकना पड़ेगा वहां हम यह स्वीकार करने के लिये बाध्य होंगे कि कोई क किसी ख का स्वभावतः ही जनक है। इस जन्य-जनक भाव के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि कारणता और कार्यता वस्तुओं के स्वाभाविक (अनारोपित) धर्म हों तो प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होते ही अपना कार्य पैदा करने में समर्थ और संलग्न हो जानी चाहिये। जैसे, मिट्टी घड़े का कारण होने से जहां कहीं भी और जिस किसी भी हालत में पड़ी हो उसे उसी हालत में अपने आप घड़े के आकार में परिणत हो जाना चाहिये। यह तर्कसंगत नहीं कि मिट्टी में घट की उत्पादकता स्वभावतः विद्यमान होते हुए भी इस उत्पादकता को कार्य के रूप में परिणत होने के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा हो। यदि कहें कि केवल मिट्टी में घटोत्पादकता नहीं है, मिट्टी, पानी, चाक आदि कारण-कलाप का ही घटोत्पादकता-स्वभाव है, तब प्रश्न होगा कि केवल मिट्टी और केवल चाक आदि के कोई स्वभाव हैं या नहीं? यदि नहीं तो न ये किसी भी कार्य के कारण होंगे न इन्हें बौद्धों के सत्यता या वस्तुता के निकष के अनुसार सत् ही माना जा सकेगा। जो किसी भी अर्थक्रिया का कारक नहीं वह सत् नहीं, ऐसा बौद्ध मानते हैं।

ह्यूम के उपर्युक्त आक्षेप का सीधा सादा उत्तर यह है कि कोई भी क्षणभंगुर वस्तु नियमतः जिस क्षणभंगुर वस्तु के पूर्व घटित होती है वह उस वस्तु की स्वभावतः कारण होती है ऐसा मानने पर कार्य-कारण-भाव का सरलता से नियमन किया जा सकता है। किस वस्तु का क्या स्वभाव है यह बात यह जानकर ही तय की जा सकती है कि उक्त वस्तु की उत्पत्ति के उत्तर क्षण में दूसरी कौन सी वस्तु उत्पन्न होती है। नियमतः पूर्वभावित्व और नियमतः उत्तरभावित्व ये ही कारणता और कार्यता के लक्षण हैं। लेकिन पूर्वभाविता और उत्तरभाविता अव्यवहित होनी चाहिये। सामान्य व्यवहार में कारण-परम्परा की घटक किसी भी वस्तु को कारण और कार्यपरंपरांतर्गत किसी भी वस्तु को कार्य मान लिया जाता है। किन्तु सही अर्थ में अव्यवहित पूर्वक्षणवर्त्ती वस्तु ही कारण और अव्यवहित उत्तरक्षणवर्त्ती वस्तु ही कार्य होती है। उपर्युक्त मिट्टी के उदाहरण में मिट्टी को गीली कर उसका लोंदा बना उसे चाक पर रख घुमाने की अन्तिम क्रिया संपन्न करने के बाद ही चूंकि घड़ा तैयार होता है अतः उस घुमाने की क्रिया को ही घड़े का वास्तविक उत्पादक मानना उचित होगा।

2. ह्यूम का कार्य-कारण-भाव के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि कार्य और कारण मानी जाने वाली वस्तुएं एक-दूसरी से बिल्कुल भिन्न होती हैं। ऐसी वस्तुओं के बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना करना ही कठिन है। कार्य-कारणभाव के लिये अपेक्षित अनिवार्य सम्बन्ध भिन्न वस्तुओं के बीच संभव मानना तो केवल अकल्पनीय है। मिट्टी और घड़े के उदाहरण में कार्य और कारण की भिन्नता स्पष्टतया उभरकर हमारे सामने नहीं आती। रोटी के खाने और उसके फलस्वरूप घटित होने वाली शरीर की पुष्टि के उदाहरण में कारण-कार्य का भेद स्पष्टतया उपलब्ध होता है। इस भेद को लक्ष्य कर यह प्रश्न उठाया जाना उचित ही प्रतीत होता है कि कैसे अत्यन्त भिन्न वस्तुओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध प्रस्थापित हो सकता है? यदि अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भी कार्य-कारण सम्बन्ध सम्भव माना जाय तो आग भी पानी का कारण हो सकती है या कोई भी वस्तु किसी भी अन्य वस्तु का कारण हो सकती है। ऐसा ही आक्षेप माध्यमिकों ने वैशेषिकों के आरंभवाद पर किया है। इस आक्षेप का उत्तर सांख्य के सत्कार्यवाद की भूमिका अपनाकर दिया जा सकता है। कार्य और कारण सत्कार्यवाद के अनुसार न पूर्णतया अभिन्न हैं न भिन्न। कार्य अपनी अव्यक्त सूक्ष्म अवस्था में कारण से अभिन्न होता है किन्तु व्यक्त, स्थूल अवस्था में कार्य कारण से भिन्न ही होता है। या ऐसा भी कह सकते हैं कि वस्तुओं की सूक्ष्म अवस्था कारण रूप होती है और उनकी स्थूल अवस्था कार्य-रूप होती है। बौद्धमत में वस्तुओं के अवस्था-भेद या स्थूल-सूक्ष्मता का प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्ध उक्त आक्षेप का समाधान इस प्रकार करते हैं कि वे कार्य कारण या अन्य किन्हीं वस्तुओं के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं मानते, पूर्वभाविता और उत्तरभाविता को ही सम्बन्ध मान लिया जाय तो दूसरी बात है। वैसे तो विरोध को भी प्रसंगविशेष में सम्बन्ध की संज्ञा दी जाती है।

यदि कार्य-कारण के बीच कोई सम्बन्ध नहीं तो कार्य-कारण-भाव का नियमन कैसे किया जाय? कोई भी वस्तु किसी भी अन्य वस्तु का कारण क्यों नहीं होती? इन प्रश्नों का प्रतीत्यसमुत्पादवादी बौद्धों की भूमिका से यह उत्तर होगा कि कार्यकारणभाव वस्तु-स्वभाव से सम्बद्ध बात है। क्यों कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु विशेष की ही उत्पादक होती है अन्य की नहीं इस बात का निर्धारक उस वस्तु का अपना स्वभाव होता है और उस स्वभाव के अनुरूप कार्य वह वस्तु करती है। जैसा कि निम्न श्लोक में कहा गया है –

वह्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शः तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं विश्वं स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥

अग्नि उष्ण होना, पानी ठंडा होना, वायु गुनगुना होना ये और इन जैसी बातें स्वभाव-सिद्ध होती हैं। इनका कोई तार्किक स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता।

फिर भी एक बात बौद्धों को माननी पड़ेगी कि कार्य और कारण आत्यंतिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। इनमें कुछ साम्य अवश्य होता है जिसके कारण कारण के

गुण-धर्म कार्य में अवतरित होते हैं। कारण ही क्यों नियमतः कार्य का पूर्वभावी या उत्पादक होता है कोई अन्य नहीं, इस प्रश्न का यह उत्तर कि कारण का स्वभाव ही कार्य-पूर्वभावी होना है, यह तर्क पर्याप्त रूप से संतोषजनक नहीं है।

कार्यकारणभाव सम्बन्धी ह्यूम का तीसरा आक्षेप दूसरे आक्षेप से जुड़ा हुआ है। वह यह है कि दो भिन्न वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध अनिवार्य या आवश्यक नहीं हो सकते। यदि कार्य के लिये कारण का (पूर्वक्षण में भी) होना अनिवार्य हो या कारण का कार्य के अपने अव्यवहितोत्तर क्षण में घटित होना अनिवार्यतया आवश्यक हो तो ये दोनों परस्पराश्रित होकर एक-दूसरे की स्वतंत्र सत्ता को ही असंभव बना देंगे। न कार्य स्वभावतः कारण पर न कारण स्वभावतः कार्य पर निर्भर कर सकता है। यही नहीं, कारण-कार्य-सम्बन्ध की अनिवार्यता या तो कार्य को कारण की या कारण को कार्य की अवस्था मात्र मानने के लिए हमें बाध्य कर देगी। ह्यूम ने अनिवार्यता सम्बन्धी अपने आक्षेप से यह निष्कर्ष नहीं निकाला है लेकिन अनिवार्यता के तार्किक स्वरूप को लक्ष्य करते हुए ऐसा निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं होगा।

उपर्युक्त आक्षेप का संतोषजनक उत्तर पाने के लिये हमें 'अनिवार्यता' के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना होगा। अनिवार्यता कई प्रकार की हो सकती है। जैसे समावेशक का समाविष्ट के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, धर्म का धर्मि के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, अभाव का प्रतियोगी के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, व्याप्य का व्यापक के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, अथवा प्रकारता या विशेष्यता का विशेष्यता या प्रकारता के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है। इन विविध सम्बन्धों से सम्बद्ध वस्तुएं एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकतीं। कुछ अन्य प्रकार की अनिवार्यतायें भी होती हैं जो ऐसी वस्तुओं को जोड़ती हैं जो प्रायः एक-साथ नहीं रहतीं या रह सकतीं। जैसे कार्य और कारण का सम्बन्ध अनिवार्य है लेकिन ये दोनों प्रायः सहवृत्ति नहीं हो जाते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व अनिवार्यतया विद्यमान होते हुए भी कार्योत्पत्ति-क्षण में ही कारण या कारण-सामग्री का नष्ट हो जाना आवश्यक है। यदि कार्योत्पत्ति के अनंतर भी कारण सामग्री बनी रही तो पुनः-पुनः कार्य उत्पन्न होने की नौबत आयेगी। यह मानना आवश्यक है कि कार्य और उसका अन्तिम कारण एक-साथ नहीं रह सकते भले ही इन का पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य हो। ज्ञान और उसके विषयों का सम्बन्ध इसी प्रकार असहवृत्ति (या नियमतः सहवृत्ति न रहने वाली) भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध है। ज्ञान का विषय वर्तमान, भूत या भविष्य अतएव ज्ञान से भिन्न-कालिक भी हो सकता है। फिर भी ज्ञान-विषय-सम्बन्ध अनिवार्य होता है। ह्यूम को असहवृत्ति या असमकालिक वस्तुओं के अनिवार्यता-सम्बन्ध पर आपत्ति है। ऐसी आपत्ति भिन्न वस्तुओं की भिन्नता के कारण भी उठायी जा सकती है, जैसीकि आंतरिक सम्बन्धवादी दार्शनिकों ने सम्बद्ध वस्तुओं की भिन्नता पर उठायी है। यदि भिन्न वस्तुओं को सम्बद्ध मानने में आपत्ति न हो तो उन्हें असहवृत्ति तथा अनिवार्यतया सम्बद्ध मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वस्तुतः बौद्ध दर्शन में सम्बन्ध का संप्रत्यय ही अस्वीकार्य होने से न कार्य-कारण का कोई सम्बन्ध होता है न इनकी कोई पारस्परिक अनिवार्यता। प्रत्येक वस्तु अपने स्थल-काल में ही अनिवार्यतया घटित होती है। यही प्रत्येक वस्तु की निजी अनिवार्यता है। उदाहरण के लिये घट-रूप कार्य और उसके विभिन्न कारणों का विचार करें तो घट का अपने उत्पत्ति-क्षण में अपने स्थान में प्रकट होना यह उसकी अपनी अनिवार्यता है। घट के कारणों की भी अपने-अपने उत्पत्ति-क्षणों में अपने-अपने स्थानों में प्रकट होना ये उनकी अलग-अलग निजी अनिवार्यतायें हैं। इनमें यदि कोई सम्बन्ध मानना हो तो वह पूर्वोत्तर-कालिकता रूप ही मानना होगा। दो या अधिक वस्तुओं को एक-दूसरे से जोड़ने वाले सम्बन्ध की विशेषता के रूप में अनिवार्यता का विचार करना बौद्ध दर्शन के अनुसार अनावश्यक और ग़लत भी है। अब तक ह्यूम के जिंन तीन प्रमुख कार्य-कारण-भाव-विरोधी तर्कों का बौद्ध दर्शन की भूमिका पर से परीक्षण किया गया वे तर्क कार्य-कारण-सम्बन्ध की वास्तविक असंभावना को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये गये हैं। ह्यूम ने कई अन्य तर्क भी कार्य-कारण-भाव के प्रत्याख्यान के लिए प्रस्तुत किये हैं जो कार्य-कारण-सम्बन्ध के ज्ञान की असंभावना को सिद्ध करने के लिये उपस्थित किये गये हैं। ये तर्क सामान्यानुमान या आगम की समस्या से सम्बन्ध रखते हैं। कार्य-कारण-सम्बन्ध के ज्ञान के बिना सामान्यानुमान असंभव है और सामान्यानुमान कार्य-कारण-सम्बन्ध-ज्ञान के बिना असंभव है। इस तरह ये दोनों परस्पराश्रित हैं।

ह्यूम के लिये सामान्यानुमान की समस्या एक अतीव गंभीर समस्या है। उसे स्वयं इस बात की ठीक जानकारी है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यदि संवेद ही वस्तुसार हो तो सामान्याकार वस्तु काल्पनिक या तर्कतः संरचित ही माननी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में वास्तविक कार्यकारणभाव संवेदों के बीच ही हो सकता है वस्तुसामान्य के बीच नहीं। यही नहीं, सामान्य की सत्ता भी संवेदवाद में कल्पनाई नहीं है। संवेदों के कार्य-कारण-भाव भी जानने का प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई साधन नहीं हो सकता। मिट्टी का एक संवेद और घट का एक संवेद इनका जो कार्य-कारण-भाव होगा वह मिट्टी का अन्य कोई संवेद और घट का भी अन्य कोई संवेद इनके कार्य-कारण-भाव से भिन्न ही होगा। किसी भी कार्य-कारण-भाव की पुनरावृत्ति संभव न होने के कारण प्रत्येक कार्यकारणभाव को तत्प्रसंग में प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है। कार्य-कारण-भाव-रूप ज्ञान के आधार पर किसी भी परिस्थिति में सामान्यानुमान किया ही नहीं जा सकता। ह्यूम ने अपने सामान्यानुमान के खंडन में इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे का उल्लेख ही नहीं किया है।

बौद्ध इस कठिनाई से अच्छी तरह परिचित हैं। संवेद्य वस्तु-विशेषों के कार्य-कारण-भाव अलग-अलग ही होते हैं और उनका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अलग-अलग प्रसंगों में ही होता है इस तथ्य को बौद्ध अच्छी तरह जानते हैं। विशेष कार्य-कारण-भावों के आधार पर सामान्य कार्य-कारण-भाव का निष्कर्षण बौद्धों के लिये एक विकल्प मात्र है। उसमें कोई सत्यता नहीं होती। तथापि वह हमें सत्य वस्तु या तथ्य के आकलन में सहायक हो सकता है।

स्वलक्षण विशेष वस्तुओं का कार्यकारण-भाव जो सत्य है उसी का कल्पित वस्तु-सामान्य पर आरोप कर हम सामान्य कार्यकारण-भाव प्राप्त करते हैं और उसके जरिये सामान्यानुमान करने में सफल होते हैं। यदि इस पर प्रश्न किया जाय कि वस्तु-विशेषों के कार्यकारण-भाव का निश्चयात्मक तथा प्रमाणभूत ज्ञान कैसे हो पाता है तो इस पर बौद्ध यही कह सकते हैं कि कहीं सीधे प्रत्यक्ष से तो कहीं सदृश विशेष वस्तुओं के कार्यकारण-भावों की तुलना से यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है। सामान्य को सत् न मानने पर भी सादृश्य को एक वस्तुगत धर्म मानने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

जैसाकि पीछे बताया गया, स्वलक्षण क्षणभंगुर वस्तुसद्वादी बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादरूप कार्य-कारण-भाव सिद्धान्त की सहायता से ही स्थिर, अनेक गुण-धर्मादि-युक्त पदार्थों के सामान्यानुभव का स्पष्टीकरण दे पाते हैं। कार्य-कारण-भावान्तर्गत जो नियम या अनिवार्यता का संप्रत्यय है उसका स्पष्टीकरण बौद्ध प्रत्येक वस्तु की प्रातिस्विक अनिवार्यता की सहायता से देते हैं। भिन्न वस्तुओं में वास्तविक सम्बन्ध माने बिना भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध की अनिवार्यता के प्रत्यय का इस तरह स्पष्टीकरण हो जाता है। ह्यूम को वास्तव में किसी भी बात का स्पष्टीकरण (जो थोड़ा भी संतोषजनक हो) देने की आवश्यकता प्रतीत होती हो ऐसा नहीं लगता। यही कारण है कि वह कार्य-कारण-भाव के संप्रत्यय को मानसिक उत्प्रेक्षामूलक मानता है। वह यह भी सोचने का प्रयास नहीं करता कि क्यों कुछ ही वस्तु-परंपराओं के सम्बन्ध में कार्यकारणभाव सम्बन्धी उत्प्रेक्षा घटित होती है और क्यों विसदृश और असम्बद्ध वस्तु-परम्पराओं के सम्मुख प्रस्तुत होने पर हम उन्हें कार्य-कारण-भावापन्न नहीं समझते।

प्रोफेसर कोलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर।

क़ुर्आन का स्वरूप और प्रामाण्य

हर्षनारायण

क़ुर्आन के सम्बन्ध में आपाततः अनेक प्रश्न उठते हैं, जिन में से बहुत से ऐसे हैं जो श्रुति के सम्बन्ध में भी उठाये गये हैं। हम यहाँ उन प्रश्नों को अपनी सूझबूझ के अनुसार दे रहे हैं। हमारा प्रयत्न होगा कि प्रस्तुत लेख में उनके उत्तर साररूप में आ जायँ। यहाँ हमारा प्रतिपादन प्रश्नशः नहीं होगा। हम स्वतन्त्र रूप से कतिपय तथ्य रखना चाहेंगे, जिन के प्रकाश में ये प्रश्न स्वतः उत्तीर्ण हो जायँ। अच्छा, अब प्रश्न लीजिए।

I

क़ुर्आन पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय? यदि पौरुषेय, तो ईश्वरोक्त है या मनुष्योक्त? यदि अपौरुषेय, तो नित्य है अथवा जन्य? यदि नित्य, तो उस के शब्द नित्य हैं अथवा अर्थ? यदि शब्द नित्य हैं, तो उनका अधिष्ठान क्या है? और यदि जन्य हैं, तो उनका मूल क्या है?

क्या क़ुर्आन का वर्तमान रूप उस का मूलरूप है? यदि हाँ, तो क़ुर्आन में ही उल्लिखित ग्रन्थ-माता (उम्मुऽल्-क़ुर्आन), गुप्त ग्रन्थ (किताब मक्नून), और सुरक्षित पट्ट (लौह मह्फ़ूज़) आदि क्या हैं, जिन्हें क़ुर्आन स्वयं अपना आदिमूल बतलाता है? और यदि प्रचलित क़ुर्आन मूल क़ुर्आन की ही पूरी या अधूरी प्रतिलिपि है, तो क्या पैग़म्बर मुहम्मद से सम्बद्ध घटनाक्रम, जिस के विवरण से प्रचलित क़ुर्आन भरा पड़ा है, वह सब मूल क़ुर्आन में ज्यों का त्यों विद्यमान है या था? क्या वे घटनाएं घटित होने के पूर्व से मूल क़ुर्आन में उपनिबद्ध हैं?

यदि क़ुर्आन ईश्वरोक्त है, तो क्या वह पैग़म्बर को ईश्वर से साक्षात् प्राप्त हुआ अथवा परम्परया? यदि परम्परया, तो परम्परा की प्रामाणिकता का प्रतिभू क्या अथवा कौन है? यदि जिब्रील फ़िरिश्ते के माध्यम से प्राप्त हुआ, तो जिब्रील की प्रामाणिकता और पहचान क्या है? क्या शैतान फ़िरिश्ते का रूप धारण कर के नहीं आ सकता? एक बार तो स्वयं पैग़म्बर मुहम्मद के अनुसार आ ही गया था और एक शैतानी आयत उन्हें सिखा भी गया था, और क़ुर्आन के अनुसार पिछले पैग़म्बरों को भी शैतान अनेक बार भ्रम में डाल चुका है।

क्या प्रचलित क़ुर्आन अक्षरशः और मात्राशः वही है जो पैग़म्बर को प्राप्त हुआ था? यदि हाँ, तो क्या पैग़म्बर उस की कोई पूर्ण, प्रामाणिक प्रति छोड़ गये थे अथवा बिखरी हुई आयतें बाद में संकलित हुईं? यदि बाद में संकलित हुईं, तो इस का क्या प्रमाण है कि संकलन परिपूर्ण, प्रक्षेपविवर्जित, और प्रामाणिक है?

कुर्आन ईश्वर-कृत/अल्लाह-कृत होने के कारण वह्य (अल्लाह-प्रेरित) कहा जाता है। प्रश्न है, क्या कुर्आन शब्दतः वह्य है अथवा अर्थतः? यदि अर्थतः, तो शब्द किस के हैं – फ़िरिश्ते के या पैग़म्बर के? यदि शब्दतः, तो पैग़म्बर ने आगे वक्ष्यमाण व्यवस्था क्यों दी कि जब तक हराम और हलाल व्यामिश्र न हो जायँ, तब तक कुर्आन के शब्दों के बदल जाने से कोई दोष नहीं उत्पन्न होता?

क्या कुर्आन स्वतःप्रमाण है अथवा परतःप्रमाण? यदि स्वतःप्रमाण, तो पैग़म्बरी हदीस अर्थात् हदीस कुद्सी का क्या प्रमाण-स्तर है? क्या वह भी स्वतःप्रमाण है? यदि हाँ, तो दोनों में विरोध की स्थिति में निर्णय कैसे होगा? और यदि परतःप्रमाण, तो वह कुर्आन की कतिपय आयतें निरस्त (मन्सूख़) कैसे कर सकती है? कहते हैं कि कुर्आन द्वारा हदीस का और हदीस द्वारा कुर्आन का निरसन हो जाता है, जैसा आगे स्पष्ट होगा।

कुर्आन के विषय में ढेर-सारे और प्रश्न उठ सकते हैं किन्तु पाठकों के विषय-प्रवेश के लिए इतने प्रश्न पर्याप्त हैं।

II

अब प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए अपनी सीमित खोज और विचारणा के आधार पर विषय-प्रतिपादन आरम्भ करेंगे।

कुर्आन अल्लाह[1] की ओर से पैग़म्बर मुहम्मद पर अवतरित कही जाने वाली आयतों (वाक्यों-कण्डिकाओं) की संहिता अथवा संग्रह है।

'कुर्आन' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है – 'क़र्अन्' तथा 'क़रअ' क्रिया की संज्ञा के रूप में। 'क़र्अन्' का अर्थ है जमा करना, इक्ट्ठा करना। किन्तु कुर्आन के सन्दर्भ में इस की सार्थकता सन्दिग्ध है। 'कुर्आन' शब्द का प्रथम प्रयोग कुर्आन की सूरः 73 (सूरतुऽल्-मुज़्ज़म्मिल) की आयत 20 में हुआ है, और यह सूरः अवतरण-क्रम में तीसरी सूरः है। उस समय कुर्आन जमा होने की स्थिति में ही नहीं था। अतः 'कुर्आन' शब्द की व्युत्पत्ति 'क़र्अन्' से करना प्रासंगिक नहीं होगा। कुर्आन की 75वीं सूरः (सूरतुऽल्-क़ियामः) की आयत 17 और 18 में 'कुर्आन' शब्द 'पढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो 'क़रअ' क्रिया से ही 'कुर्आन' शब्द की व्युत्पत्ति मानने से सम्भव होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कुर्आन' शब्द भाषा के क़िर्याना (queryana) का एक रूप है जिस का अर्थ है चर्च में एक शास्त्रीय पाठ।

कहते हैं कि कुर्आन को प्रथम तीन ख़लीफ़ाओं के काल तक 'अल्-मुस्ह़फ़' कहने की परिपाटी थी। अब्दुल्लाह इब्न मस्ऊद ने कुर्आन की कम से कम 70 सूरतें पैग़म्बर-मुख से पढ़ कर कुर्आन का अपना एक स्वतन्त्र संग्रह तैयार किया और उस का नाम 'अल्-मुस्ह़फ़' रखा था, जिस की विशेष चर्चा आगे आयेगी। और तो और, ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी, पटना, में कुर्आन की 1200 हिज्री (1785 ई.) में प्रतिलिपि की हुई एक हस्तिलिखित पुस्तक है, जिस में कुर्आन के प्रचलित संग्रह से 33 आयतें अधिक हैं और जिस का भी नाम 'मुस्ह़फ़ शरीफ़' है।[2] 'मुस्ह़फ़' लिखित पन्नों ('सहीफ़ों', 'सुहुफ़') के संग्रह का नाम है। 'सहीफ़ः'

का अर्थ पन्ना है, और 'सुहुफ़' उस का बहुवचन है। क़ुर्आन की 98वीं सूरः (सूरतुऽल्बैयिनः) की आयत 2 में 'सुहुफ़' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है, जिस से पता चलता है कि पैग़म्बर के काल में क़ुर्आन पन्नों पर लिखा जाने लगा था।

वस्तुतः, जलालुद्दीन सुयूती के अनुसार क़ुर्आन के 55 नाम क़ुर्आन में पाये जाते हैं।[3] उस में इन में से 'क़ुर्आन' नाम का ही सर्वाधिक प्रयोग प्राप्त होता है। यह भी जानना चाहिए कि 'क़ुर्आन' शब्द का प्रयोग पूरी पोथी के लिए भी, उस के अंशों के लिए भी, और उसके वक्ष्यमाण संकलनों के लिए भी प्रचलित है।

क़ुर्आन के वाक्य 'आयत' कहलाते हैं। कभी-कभी एक आयत में पूरी कण्डिका आ जाती है। 'आयत' का शब्दार्थ है चिह्न अथवा चमत्कार। आयतें हैं तो गद्य में, किन्तु पूरा क़ुर्आन अन्त्यानुप्रासयुक्त (मुसज्जअ्) आयत-समूहों में बंटा हुआ है, जिस से गद्य पद्यगन्धि हो जाता है। प्रचलित क़ुर्आन में कुल 114 अध्याय हैं, जिन्हें सूरः /सूरत कहा जाता है। सूरः सूरत का मूल उत्तरवर्ती-हिब्रू शब्द 'शूरा' है, जिस का अर्थ है 'सीरीज़' (आवलि, श्रेणी)। एक अन्य विभाजन के अनुसार क़ुर्आन में कुल 30 आह्निक हैं, जिन्हें अरबी में 'जुज़' (टुकड़ा) कहा जाता है और फ़ारसी-उर्दू में पारः (टुकड़ा)। इस पद्धति से ग्रन्थ का पारायण एक मास में पूर्ण हो जाता है। क़ुर्आन की आयतों की संख्या के विषय में मतभेद है। ये मत 6000 और 6666 के बीच झूलते पाये जाते हैं।

क़ुर्आन पैग़म्बर पर सहसा, सर्वात्मना, एकबारगी नहीं उतरा। वह उन के जीवन और मिशन में समय-समय पर उठने वाली समस्याओं के समाधान में रह-रह कर, थोड़ा-थोड़ा करके, उतरता रहा। यह क्रम उन के जीवन के 35वें से 40वें वर्ष से आरम्भ होकर उन के 63वें वर्ष के वय में निधन के कुछ दिन पूर्व तक चला। इस प्रकार क़ुर्आन का अवतरण कम से कम 23 वर्ष की अवधि में पूर्ण हुआ।

उन आयतों का पुस्तकरूपेण संकलन और संग्रन्थन पैग़म्बर के जीवनकाल में नहीं हुआ। उन्होंने इस की आवश्यकता की कभी चर्चा भी नहीं की। क्यों? एक मत यह है कि वे समझते थे कि उन के अन्तकाल तक कोई आयत उठा ली जा सकती है, मन्सूख़ हो सकती है।[4] एक मत यह भी हो सकता है कि उन्हें अनुमान नहीं था कि उन का अन्तकाल इतना निकट है। अस्तु, क़ुर्आन की 75वीं सूरः, सूरतुऽल्क़ियामः, की आयत 17 में अल्लाह का वादा है, 'क़ुर्आन का जमा करना और पढ़वाना मेरे ज़िम्मे है।' इस सम्बन्ध में इस से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह सूचना अवश्य मिलती है कि पैग़म्बर प्रायः यह इंगित कर दिया करते थे कि कौन सी आयत किस सूरः में समाविष्ट की जाय।[5] यद्यपि क़ाज़ी इय्याज़ ने इस के विपरीत मत प्रकट किया है और लिखा है कि पैग़म्बर रात्रि की नमाज़ में सूरः 4 को सूरः 3 के पूर्व पढ़ते थे।[6]

अच्छा, पैग़म्बर के निधन के बाद प्रथम ख़लीफ़ः हज़्रत अबू बक्र सिद्दीक़ से उन के भावी उत्तराधिकारी हज़्रत उमर ने क़ुर्आन की आयतों के संकलन का आग्रह किया। हज़्रत अबू बक्र पहले तो तैयार नहीं हुए, कहा कि जिस काम को पैग़म्बर ने नहीं किया उसे मैं

क्यों करूँ, और सूरतुऽल्क़ियामः की सद्यः उदाहृत आयत का हवाला भी दिया; किन्तु हज़्रत उमर ने उन्हें अन्ततः मना ही लिया। ख़लीफ़ा ने क़ुर्आन के संकलन का कार्य पैग़म्बर के एक लिपिक (कातिबुऽल्वह्य) ज़ैद को सौंपा। यह कार्य कितना कठिन था इस का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ज़ैद की प्रतिक्रिया थी, 'अल्लाह की क़सम ! मुझे एक पहाड़ हटा कर दूसरे स्थान पर रख देने की आज्ञा होती तो यह बात मुझ पर इतनी बोझिल न होती जितनी क़ुर्आन संकलित करने की आज्ञा मुझ पर सख़्त गुज़री।[7] (बुख़ारी, II,क़िताबुऽत्-तफ़्सीर, अध्याय 975, हदीस 2095-2096)। अस्तु, ज़ैद ने यह कार्य हाथ में लिया और क़ुर्आन की आयतें खजूर के पत्तों, पत्थर के टुकड़ों, और लोगों के सीनों से तलाश कर के जमा किया, यहाँ तक की सूरतुऽत्तौबः की अन्तिम आयत हज़्रत अबू ख़ुज़ैमः अन्सारी के पास मिली, और किसी से उपलब्ध नहीं हुई।'[8] इस प्रकार संकलित क़ुर्आन प्रथम ख़लीफ़ः के पास रहा, उन के बाद द्वितीय ख़लीफ़ः हज़्रत उमर के पास आया, और फ़िर हज़्रत उमर की बेटी और पैग़म्बर की पत्नी हज़्रत हफ़्सः के पास पहुंचा।[9]

एक अन्य परम्परा के अनुसार ज़ैद नहीं बल्कि हज़्रत उमर स्वयं आयतें काग़ज़ों, तख़्तियों, और वृक्षों की छालों पर लिखा करते थे, और कोई भी आयत तब तक क़ुर्आन में समाविष्ट नहीं करते थे जब तक उस पर दो गवाहियां प्राप्त न हो जायँ।[10] एक तीसरी परम्परा के अनुसार हज़्रत अबू बक्र ने हज़्रत उमर और ज़ैद से कहा कि तुम दोनों व्यक्ति मस्जिद के द्वार पर बैठो और जिस आयत पर गवाहियां उपलब्ध हो जायँ उसे स्वीकार कर लो।[11]

यहाँ दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार से संकलित क़ुर्आन हज़्रत उमर के हाथों नित्य संशोधित होता रहा। शाह वलीउऽल्लाह किसी प्रमाण के आधार पर लिखते हैं, 'बाद इस के कि महान् क़ुर्आन एक ग्रन्थ में संकलित हो गया, हज़्रत उमर फ़ारूक वर्षों इस पोथी के संशोधन में सचेष्ट रहे और इस के विषय में सहाबः (पैग़म्बर के मित्रों) के साथ प्रायः वाद किया करते थे। . . . कभी सत्य इन के लिखाये हुए के विरुद्ध प्रकट होता तो इस दशा में वह अपने लिखे हुए को मिटा डालते और बजाय उस के वही लिख देते जो सत्य सिद्ध हुआ था।'[12] दूसरी बात यह कि शिब्ली नुअ्मानी के अनुसार हज़्रत उमर क़ुर्आन के प्रचार-प्रसार में जुट गये। उन्होंने हज़ारों हाफ़िज तैयार किये और क़ुर्आन की प्रतियां करा कर पूरे देश में प्रसारित कर दिये।[13]

अस्तु, इस विधि से संकलित पोथी हज़्रत हफ़्सः के पास पहुंची। जब हज़्रत उस्मान तीसरे ख़लीफ़ा बने तो उन्होंने वह पोथी हज़्रत हफ़्सः के यहाँ से मंगवा ली और ज़ैद बिन साबित के अतिरिक्त तीन और व्यक्तियों को उस की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का आदेश दिया। उन्होंने इस तीनों को यह भी निर्देश दिया कि जब उन का किसी शब्द को ले कर ज़ैद से मतभेद हो तो कुरैश की भाषा (लिसान) में लिखना, क्योंकि क़ुर्आन का प्रादुर्भाव पैग़म्बर के क़बीले कुरैश की भाषा में हुआ है।[14] अतएव उन लोगों ने ऐसा किया और इस प्रकार संशोधित प्रतियाँ तैयार कर के प्रत्येक प्रान्त में प्रेषित कर दिया। हफ़्सः की पोथी उन्हें वापस कर दी गयी।

हज़्रत उस्मान ने यह भी अध्यादेश प्रसारित किया कि केवल उन के द्वारा प्रचारित-प्रसारित पाठ ही सही और प्रामाणिक माना जाय तथा कुर्आन की अन्य सारी पूरी और अधूरी पोथियाँ भस्मसात् कर दी जायँ। इस आदेश के अन्तर्गत कुर्आन की वे सब पोथियाँ ढूँढ-ढूँढ कर, बल-प्रयोग द्वारा छीन-छीन कर, जला डाली गयीं।[15] हज़्रत हफ़्सः की पोथी बच गयी थी। बाद में जब ख़लीफ़ा अमीर मुआवीयः ने मरवान को मदीने का राज्यपाल नियुक्त किया, तो मरवान ने स्वर्गीया हफ़्सः के भाई अब्दुऽल्लाह बिन उमर से उक्त पोथी बलात् मँगवा कर जला डाली अथवा फड़वा डाली।[16]

एक अन्य सूत्र के अनुसार हज़्रत हफ़्सः के निधन के पश्चात् हज़्रत उस्मान ने वह पोथी अब्दुऽल्लाह बिन उमर से बलात् मँगवा कर पानी से धुलवा डाली।[17]

यह भी ज्ञातव्य है कि, यद्यपि कुर्आन की सरकारी पोथी उक्त प्रकार से तैयार की गयी, तथापि गिने-चुने कुर्आनविदों ने अपने-अपने संग्रह पहले ही से तैयार कर लिये थे। कहते हैं कि पैग़म्बर ने स्वयं निर्देश दिया था 'कि कुर्आन मजीद चार सज्जनों से प्राप्त करो, अर्थात् अब्दुऽल्लाह बिन मस्ऊद, सालिम मौला अबू हुज़ैफ़ः, मुआज़ बिन जबल, और उबैय बिन कअ्ब से।[18] यह भी कहा जाता है कि चार अन्सारियों ने कुर्आन अपने-अपने ढंग से संकलित कर रखा था, जो ये हैं– उबैय बिन कअ्ब, मुआज़ बिन जबल, ज़ैद बिन साबित, और अबू ज़ैद (सअ्द बिन उबैद)।[19] एक अन्य सूची है – अबू दर्दा, मुआज़ बिन जबल, ज़ैद बिन साबित, और अबू ज़ैद (सअ्द बिन उबैद)।[20] इस सन्दर्भ में दो नाम और लिये जाते हैं – अबू मूसा अश्अरी और हज़्रत अली। अबू मूसा द्वारा संकलित कुर्आन का शीर्षक था लुबाबुऽल्कुलूब, जो बसरा में प्रचलित था।[21] इब्नुऽन्-नदीम ने लिखा है, जब हज़्रत अली ने पैग़म्बर के निधन के बाद मुसल्मानों में बिखराव देखा तो शपथ ली कि मैं अपने कन्धे पर लबादा (लम्बा कुर्ता) नहीं डालूँगा जब तक कुर्आन का संकलन न कर लूँ। अतएव वे तीन दिन घर के अन्दर बैठे और कुर्आन संकलित कर के ही उठे।[22] हज़्रत अली का दावा था कि कोई भी आयत ऐसी नहीं जिस के विषय में वे नहीं बता सकते कि वह रात को प्रादुर्भूत हुई या दिन को, मैदान में या पर्वत पर। या यह कि वह 'किस में, कहाँ, और किस के सम्बन्ध में प्रादुर्भूत हुई।'[23] पता नहीं कि उन की पोथी (यदि थी तो) उस्मानी अग्नि की भेंट चढ़ गयी अथवा कालकवलित हो गयी। उस की विशेषता यह थी कि उस में आयतों का क्रम अवतरणतिथिक्रमानुसारी था।[24] किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि हज़्रत अली के कुर्आन-संकलन की सूचना केवल एक प्रवक्ता (रावी) से प्राप्त होती है और इस प्रकार अपुष्ट है।[25]

कुर्आनविदों में अब्दुऽल्लाह इब्न मसऊद का पद सर्वोपरि था। हु.जैफ़ः का कथन है, 'मैं किसी ऐसे व्यक्ति से अवगत नहीं जो सूरत और सीरत में हज़्रत अब्दुऽल्लाह बिन मस्ऊद की अपेक्षा पैग़म्बर मुहम्मद से निकटतर हो।'[26] बल्कि हज़्रत अबू बक्र और हज़्रत उमर दोनों का मत था कि पैग़म्बर का निर्देश था कि कुर्आन का यथावत् ज्ञान करना हो तो अब्दुऽल्लाह बिन मस्ऊद के पाठ का अवगाहन करे।[27] वस्तुतः उक्त चारों-पाँचो

क़ुर्आनवित् ज़ैद बिन साबित की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ थे और क़ुर्आन के संकलन-सम्पादन के लिए उन की अपेक्षा अर्हतर। ज़ैद पैग़म्बर के लिपिक अवश्य थे, किन्तु वे मदीने में मुसल्मान हुए थे, अर्थात् मक्के में हिज्रत के पूर्व तेरह-चौदह वर्ष तक जो आयतें उतरती रहीं उन्हें लिपिबद्ध करने से सर्वथा वंचित थे। अतः जब उन्हें क़ुर्आन के संकलन-सम्पादन पर नियुक्त किया गया तो इब्न मस्ऊद चिल्ला पड़े – ऐ मुसल्मानो! अन्धेर है कि मुझ-सा व्यक्ति क़ुर्आन लिखने से वंचित किया जाय और उस पर ऐसा व्यक्ति नियुक्त हो जो अल्लाह की क़सम जब मैं मुसल्मान हो चुका था तो वह उस समय एक काफ़िर की पीठ में था। अब्दुऽल्लाह इब्न मस्ऊद का इराक़-वासियों पर अधिक प्रभाव था। अतः उन्होंने उन से कहा – ऐ इराक़ वालो, वह पोथियाँ जो तुम्हारे पास हैं उन्हें छिपा लो, उन पर ताला लगा दो। किन्तु अब्दुऽल्लाह इब्न मस्ऊद की पोथी भी बलपर्वूक, उन्हें मार-पीट कर, छीन ली गयी और अग्नि को समर्पित कर दी गयी। उबैय इब्न कअ्ब ने अपनी पोथी मारे डर के स्वयं प्रदान कर दी थी, जो भी अग्नि के हवाले हुई।[28] वस्तुतः अब्दुऽल्लाह बिन मस्ऊद से बड़ा क़ुर्आन-वित् उस काल में कोई नहीं था।[29]

अब्दुऽल्लाह इब्न मस्ऊद के क़ुर्आन में प्रथम सूरः (सूरतुऽल्-फ़ातिहः) और अन्तिम दो सूरतें (जो मुअव्विज़तैन, शरणागति की प्रार्थनाएं, कहलाती हैं) नदारद हैं और उबैय बिन कअ्ब के क़ुर्आन में दो सूरतें अधिक हैं। अर्थात् प्रचलित-क़ुर्आन में सूरतों की संख्या 114 है, अब्दुऽल्लाह इब्न मस्ऊद के क़ुर्आन में 112, और उबैय बिन कअ्ब के क़ुर्आन में 116। हज़्रत अली की पोथी के विषय में केवल इतनी सूचना है, और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, कि उस में आयतों की आनुपूर्वी कालक्रमानुसारी थी। अर्थात् उन की पोथी में आयतें उसी क्रम से प्रविष्ट हैं जिस क्रम से वे प्रादुर्भूत हुईं। प्रचलित क़ुर्आन की आयतों का क्रम सर्वथा भिन्न है, बल्कि, यदि यह कहा जाय कि उसमें कोई क्रम नहीं, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस की चर्चा बाद में आयेगी।

हज़्रत उस्मान के सार्वभौम क़ुर्आन-दहन के बावजूद कतिपय क़ुर्आन, अथवा क़ुर्आन के कतिपय संकलन, बच गये, जिन का किंचित् विवरण भी प्राप्त है। एक इतिवृत्त के अनुसार 398 हिज्री में तत्कालीन ख़लीफ़ः की राजधानी बगदाद में सुन्नियों को क़ुर्आन की एक पोथी मिली और उसे अब्दुऽल्लाह इब्न मस्ऊद की पोथी माना गया। तब एक सभा की गयी और प्रचलित क़ुर्आन से तुलना करने पर पाया गया कि दोनों पोथियों में भारी भेद है। अतः उसे वहीं जला डाला गया।[30] हमने ऊपर ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी, बाँकीपुर, पटना के उस हस्तलेख का उल्लेख किया है जिस में प्रचलित क़ुर्आन से 33 आयतें अतिरिक्त हैं। इन आयतों में हज़्रत अली की खिलाफ़त (ख़लीफ़ः के पद) का उल्लेख नामतः किया गया है और अह्लुऽल्-बैत (पैग़म्बर के वंश) की महत्ता स्थापित की गयी है। इस के अतिरिक्त उस में आयतों का क्रम ऐतिहासिक अथवा कालक्रमानुसारी है, जो हज़्रत अली की पोथी की विशेषता थी, जबकि प्रचलित पोथी में ऐसा कुछ नहीं है। उक्त पोथी

(पटना-पोथी) के अन्त में दो सूरतें अतिरिक्त हैं, जिन के शीर्षक हैं – सूरतुऽन्-नूरैन और सूरतुऽल्-विलायः।[31] जहाँगीर के काल में विरचित ग्रन्थ दबिस्ताने मज़ााहिब में शीओं की ओर से कुछ आयतों की एक सूरः दी गयी है जो प्रचलित क़ुर्आन में नहीं है। बिस्मिल्लाह के बाद यह सूरः इस आयत से आरम्भ होती है -'या अय्युहऽल्लज़ीन! आमनू आमनू बिऽन्-नूरैन्. . .।[32] 'अन्नूरैन' से प्रतीत होता है कि यह वही सूरतुऽन्-नूरैन् है जो पटना-पोथी में उपलब्ध है। हमें दोनों की तुलना का अवसर नहीं मिला है।

प्रवर्तमान शताब्दी के आरम्भ में प्रचलित क़ुर्आन से भिन्न तीन क़ुर्आनों के कुछ पृष्ठ प्राप्त हुए, जिन्हें 1914ई. में पाठभेदों की सूची सहित अल्फ़ॉन्से मिंगना और एग्निस स्मिथ लेविस ने सम्पादित किया।[33] मिंगना ने ही क़ुर्आन के एक प्राचीन सुरयानी अनुवाद पर एक पुस्तक 1925 में प्रकाशित कर के दिखलाया कि उस के मूल क़ुर्आन-पाठ में कई नयी आयतें हैं जो प्रचलित क़ुर्आन में नदारद हैं।[34] इस के अतिरिक्त प्रचलित क़ुर्आन की आरम्भिक दो सूरतों के बदले उस में केवल एक सूरः है, जिसे सूरतुऽल्-बक़रः नामक प्रथम सूरः कहा गया है।[35] उसी प्रकार आर्थर जेफ़री ने इब्न अबी दाऊद (मृत्यु 929ई.) की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक किताबुऽल्मसाहिफ़ ढूंढ निकाली जो सम्प्रति दमिश्क की ज़हीरीया लाईब्रेरी में उपलब्ध है। जेफ़री ने उसे सम्पादित कर के 1936 में प्रकाशित किया था, जो मुझे केवल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राप्त हुई थी। इस पुस्तक में इब्न मस्ऊद, उबैय बिन कअ्ब, इब्न अब्बास, अनस, अबू मूसा, आदि के क़ुर्आनों के पाठ-भेद सूचीबद्ध किये गये हैं। पुस्तक का हस्तलेख 1283ई. में तैयार हुआ था। इब्न अबी दाऊद ने उन सूत्रों (इस्नाद) के सन्दर्भ भी दिये हैं जिनसे उसे उस के द्वारा क़ुर्आन के पर्यालोचित संकलन प्राप्त हुए।[36] इब्नुऽन्-नदीम की पुस्तक फ़िह्रिस्त में क़ुर्आन के विविध संकलनों के पाठभेदों (इख़्तिलाफ़ुऽल्-मसाहिफ़) का विवरण दिया गया है। इन संकलनों के प्रणेता हैं इब्न आमिर, अल्-फ़र्रा, खलफ़ बिन हिशाम, अल्-मदाइनी, अल्-वर्राक़, और मुहम्मद बिन अब्दुऽर्रहमान।[37] इस प्रकार की अन्य पुस्तकें भी थीं, सम्भवतः आज भी होंगी, जिनका उद्धार, स्पष्ट कारणों से, कठिन है। अरबी तफ़्सीरों (क़ुर्आन-भाष्यों) आदि में कहीं-कहीं पाठभेदों की चर्चा आ जाती है, '(क़ुर्आन के) किसी-किसी संकलन में (फ़ी बअ्ज़िऽल्-मसाहिफ़)', 'आदिम (पैग़म्बर-कालीन) पाठ में (फ़िऽल्-हर्फ़िऽल्-अव्वल)' के हवाले से।

यहाँ स्मरणीय है कि उक्त पुस्तकों में केवल उन्हीं पाठभेदों को विचारकोटि में रखा गया है जिन से सिद्धान्त में अन्तर नहीं आता और जो आयतों के अर्थानुसन्धान में सहायक हों। मौलिक पाठभेदों की सर्वत्र उपेक्षा की गयी है,[38] अन्यथा उन पुस्तकों का भी बचना असम्भव था। इस तथ्य को अनदेखा कर के आधुनिक मुस्लिम विद्वान् पाठभेदों को पाठभेद न मान कर व्याख्यात्मक पदावली मानते हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्वामी दयानन्द विविधशाखागतपाठभेद को मूलवेदसंहितागत पदों की व्याख्या मात्र मानते हैं।

यह भी ज्ञातव्य है कि हज़्रत उस्मान द्वारा प्रमाणीकृत क़ुर्आन में स्वरांकन नहीं था, लघु स्वरों, मात्राओं, के चिह्नों की परिकल्पना नहीं हुई थी। यह कमी ख़लीफ़ा अब्दुऽल्-मलिक

के काल में इराक़ के राज्यपाल हज्जाज बिन यूसुफ़ ने पूरी की, जिस से उच्चारण में एकरूपता सम्भव हुई।

वस्तुतः कुर्आन के विविध संकलनों में अक्षरी, वर्तनी, शब्दावली, पदानुपूर्वी, वाक्यानुपूर्वी, आयतों और सूरतों के पौर्वापर्य में एकरूपता नहीं थी। बल्कि आयतों की संख्या में भी भारी भेद का पता चलता है।

पैग़म्बर का वचन है कि कुर्आन सात पाठों (क़िर्अतों) में उतरा है।[39] उन में से कोई भी पाठ चुना जा सकता है। हज़्रत उमर ने हिशाम बिन हकीम को एक भिन्न प्रकार से कुर्आन का पाठ करते सुना और उन्हें पैग़म्बर के पास घसीट ले गये। पैग़म्बर को हिशाम ने अपना पाठ सुनाया। पैग़म्बर ने कहा, पठितांश ठीक इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुआ है। फ़िर हज़्रत उमर ने अपना पाठ सुनाया। पैग़म्बर ने कहा, ठीक इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुआ है।[40] एक व्यक्ति ने हज़्रत आयशा (पैग़म्बर की सबसे चहेती अल्पवयस्कप्राय पत्नी) से उनका कुर्आन माँगा और कहा कि मैं अपने कुर्आन का क्रम दुरस्त करना चाहता हूँ। हज़्रत आयशा ने उत्तर दिया, इस में तुम्हारी कोई हानि नहीं, जिस अंश को चाहो पहले पढ़ लो।[41] वस्तुतः पैग़म्बर ने यहाँ तक छूट दी है कि यदि दया की आयत को कोप की आयत में परिणत करने से बचा जा सके तो कोई भी पाठ प्रयोग में लगाया जा सकता है।[42] इसी प्रकार, अब्दुऽल्लाह बिन मसूऊद कहते हैं कि एक बार विवाद उठा कि अमुक सूरः में 35 आयते हैं या 36। जब मामला पैग़म्बर के समक्ष उपस्थित हुआ तो उनका चेहरा लाल हो गया और उन्होंने कहा, मतभेद के कारण तुम से पूर्ववर्ती लोग नष्ट हो गये। इस के बाद उन्होंने हज़्रत अली के कान में कुछ कहा, और हज़्रत अली बोले कि 'पैग़म्बर का आदेश है कि जैसा तुम्हें पढ़ाया गया है वैसा पढ़ो।'[43] अब्दुऽल्लाह बिन मसूऊद ने एक ग़ैर-अरब को कुर्आन के एक शब्द का पर्याय प्रयोग में लाने की छूट दे दी क्योंकि वह ग़ैर-अरब मूल शब्द का उच्चारण नहीं कर पाता था।[44]

आरम्भ में कुर्आन का आकार-प्रकार कितना अनियत, कितना श्लथ, था इस का अनुमान इस से भी हो जाना चाहिए कि नवीं सूरः, सूरतुऽत्-तौबः, की अन्तिम दो आयतें केवल एक व्यक्ति, ख़ुज़ैम अन्सारी, के पास मिलीं।[45] इस पर हज़्रत उमर ने कहा था कि यदि एक और आयत मिल जाती तो मैं उन तीनों आयतों की एक सूरः बना देता।[46]

अस्तु, जब कभी विविध कुर्आनों में परस्पर विसगतियाँ प्रकट होती थीं तो प्रायः यह कह कर सन्तोष कर लिया जाता था कि जब तक दण्ड और पुरस्कार, हराम और हलाल, में व्यामिश्रण का सन्देह न उत्पन्न हो तब तक इन विसगतियों की परवाह नहीं करनी चाहिए।[47]

अस्तु, हज़्रत उस्मान ने उक्त सारी छूटें निरस्त कर दीं। हज़्रत अबू बक्र और हज़्रत उमर अथवा ज़ैद बिन साबित ने कुर्आन का संकलन पृथक्-पृथक् पन्नों (सुहुफ़) पर किया था, जिन्हें हज़्रत उस्मान ने एक विशेष क्रम में पुस्तकाकार कर दिया।[48] और सभी निजी संकलनों को जलवा दिया, जिस से सारी छूटें स्वयमेव निरस्त हो गयीं। उस की रही-सही

सम्भावना हज्जाज बिन यूसुफ़ ने कुर्आन में मात्राएं लगा कर समाप्त कर दीं, इस प्रकार अल्लाह की ओर से अवतरित पाठ-सप्तक सर्वथा निःशेष हो गया।

तथापि कहा जाता है कि चौदह क़िर्अतें (पाठ-पद्धतियाँ) आज भी अस्तित्व में हैं और उन्हें उलमा का समर्थन भी प्राप्त है। हम इस विषय में कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं। जिसे इन चौदह क़िर्अतों का विवरण जानना हो वेअमीदुऽद्-दीन फुलवारवी का लेख, 'कुर्आन की चौदह क़िर्अतें', देख सकता है।[49]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्भवतः हज़्रत अली और हज़्रत अब्दुऽल्लाह बिन मसऊद के कुर्आनों को छोड़ कर कोई कुर्आन आयत-अवतरणतिथि-क्रम से संकलित नहीं हुआ। प्रचलित कुर्आन में बस एक ही क्रम दिखलायी पड़ता है। इस में प्रथम सूरः, सूरतुऽल्-फ़ातिहः, को छोड़ कर, जिस में अत्यन्त छोटी-छोटी कुल सात आयतें हैं, अन्य सूरतों का क्रम इस प्रकार है कि द्वितीय सूरः, सूरतुऽल्-बक़रः, कुर्आन की सब से बड़ी सूरः है और शेष सूरतें क्रमशः छोटी होती गयी हैं। कहतें हैं कि सब से पहली सूरः जो पैग़म्बर पर अवतरित हुई थी सूरतुऽल्-अलक़ (इक़्रा) है और दूसरी सूरतुऽल्-मुद्दस्सिर, किन्तु कुल 114 सूरतों के बीच वे क्रमशः संख्या 96 और 74 पर स्थित हैं। कुर्आन की अन्तिम सूरः सूरतुऽत्-तौबः बतायी जाती है, जिसे सूरतुऽल्-बराअः भी कहते हैं, किन्तु प्रचलित कुर्आन में वह नवें स्थान पर है। हज़्रत अली के कुर्आन का आरम्भ सूरतुऽल्-अलक़ (इक़्रा)(96) से, इसके बाद सूरतुऽल्-मुद्दस्सिर (74), फ़िर सूरतुऽल्-कलम (68), फिर सूरतुऽल्-मुज़्ज़म्मिल् (73), फ़िर सूरतुऽत्-तक्वीर (81), और इसी प्रकार अन्त तक मक्की और मदनी सूरतें यथानुक्रम संकलित हैं।[50]

कुर्आन की आयतें भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर उतरी थीं। वे स्थल विविध प्रकार से अभिहित किये गये हैं, जैसे मक्का, मदीना, ताइफ़, बैतुऽल्-मक़्दिस, हुदैबिया, हुज़ैफ़ा (मुहम्मद बिन हबीब नैशापूरी, किताबुऽत्-तंबीह)।[51] ऐसे 14 स्थान हैं। क़ाज़ी अबू बक्र इब्नुऽल्-अरबी ने कुर्आन की आयतों को अवतरणस्थलानुसारी विशेषण दिये हैं – मक्की, सफ़री, हज़री, लैली, निहारी, समावी, और अर्ज़ी। उनके अनुसार कुछ आयतें आस्मान और धरती के बीच अधर में प्रलम्बित (मुअल्लक़) उतरीं और कुछ धरती के नीचे, गुफा में, उतरी थीं।[52] मक्की और मदनी का अर्थ आगे आयेगा। सफ़री आयतें यात्रा में और हज़री आयतें ठहराव अथवा पड़ाव में उतरी थीं। लैली रात में और निहारी दिन में, समावी, आस्मान पर और अर्ज़ी धरती पर उतरी थीं। इसी प्रकार सर्दी, गर्मी, जागरण, निद्रा आदि की दशा में उतरी आयतों का भी विवरण दिया जाता है। किन्तु पूरे कुर्आन को, कुल मिलाकर, मक्की और मदनी सूरतों और आयतों में बांटा गया है। एक हिसाब से 86 सूरतें मक्की और 28 मदनी हैं, एक दूसरे हिसाब से 82 मक्की और 14 मदनी हैं, और एक मक्के तथा मदीने के बीच में उतरी बतलायी जाती है। सन् 54 हिज्री (675 ई.) तक अवतरित आयतें मक्की हैं और शेष मदनी। इस प्रकार मक्की आयतें कुल कुर्आन का 19/30 भाग हैं और मदनी 11/30 भाग।

अब, प्रचलित क़ुर्आन में मक्की सूरतों के बीच में मदनी आयतें और मदनी सूरतों के बीच में मक्की आयतें पायी जाती हैं। अतः मक्की और मदनी का बँटवारा प्रचलित क़ुर्आन में सही-सही प्रतिबिम्बित नहीं होता।

यह भी माना जाता है कि जो आयतें पैग़म्बर की मक्के से मदीने के लिए हिज्रत (निष्क्रमण, 622 ई.) के पूर्व में उतरी थीं वे मक्की और बाद की सभी आयतें मदनी हैं, वे चाहे जब और जहाँ उतरी हों। इस प्रकार पैग़म्बर के मदीना छोड़कर मक्के लौट आने पर उतरी हुई आयतें भी मदनी ही कही जाती हैं।

तो प्रचलित क़ुर्आन में न तो मक्की-मदनी सूरतों और आयतों का ठीक क्रम प्राप्त होता है और न वे अवतरण-क्रम से संकलित हैं। इसका परिणाम यह है कि जो क़ुर्आन और इस्लाम का इतिहास ठीक-ठीक नहीं जानता वह क़ुर्आन के विषय में उल्टे-पुल्टे निष्कर्ष निकालने के लिए अभिशप्त है। क़ुर्आन की कुछ आयतें बाद में उतरी आयतों से मन्सूख़ अर्थात् निरस्त मानी जाती हैं अथवा यह माना जाता है कि बाद की आयत पूर्व आयत की तख़्सीस (विशेषीकरण, अथवा परिसीमन) करती है। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में पहले निरस्त/निरस्यमान आयत आनी चाहिए और बाद में निरसक। किन्तु प्रचलित क़ुर्आन में कहीं-कहीं यह क्रम उलट गया है, फलतः सामान्य पाठक निरस्त को निरसक आयत समझने का अनर्थ कर बैठेगा। उदाहरण लीजिए। सूरतुऽल्-बक़रः (2) की आयत 234 के अनुसार पति के निधन के बाद उसकी विधवा चार मास दस दिन की इद्दत (व्यवधान, प्रतीक्षावधि) गुज़ार कर ही दूसरा विवाह कर सकती है, किन्तु आयत 280 के अनुसार इद्दत की अवधि एक वर्ष है। साधारण पाठक समझेगा कि चार मास दस दिन की इद्दत बढ़ा कर एक वर्ष कर दी गयी, जबकि स्थिति एकदम उल्टी है। एक वर्ष की इद्दत मन्सूख़ कर के उसकी अवधि मात्र चार मास दस दिन कर दी गयी है। आयतों के क्रम में विपर्यय हो गया है।

एक अन्य उदाहरण – सूरतुऽल्-अन्फ़ाल (8) की आयत 5 से 7 से प्रकट होता है कि वे पैग़म्बर और अमुस्लिमों के बीच बद्र में घटित युद्ध के बाद उतरी थीं, किन्तु आयत 15-16 में जो चेतावनी दी गयी है वह युद्ध के पूर्व की है। फ़िर अगली आयत में युद्ध का परिणाम भूतकाल की क्रियाओं द्वारा इंगित किया गया है। पुनः 65वीं आयत में उसी युद्ध के लिए ललकारते हुए कहा गया है कि उक्त युद्ध में 20 मुसल्मान 200 पर और 100 मुसल्मान 1000 पर भारी पडेंगे। यह आयत स्पष्ट ही युद्ध-पूर्व स्थिति की ओर संकेत करती है। आश्चर्य यह है कि ठीक इसके बाद जो आयत आती है वह इसे इन शब्दों में निरस्त कर देती है, 'अब घटा दिया अल्लाह ने तुम से और जाना यह कि तुम में दुर्बलता है। अतः यदि होवें तुम में 100 तो वे विजय पायेंगे 200 पर और यदि होवें तुम में 1000 तो विजय पायेंगे 2000 पर . . .।'

शराब आदि मादक द्रव्य-विषयक विधि-निषेध में तो और भी जटिलता उत्पन्न हो गयी है। सूरतुऽल्-बक़रः (2) की आयत 219 इस प्रकार है : 'प्रश्न करते तुझसे (ऐ पैग़म्बर !)

शराब और जुएं के बारे में। तू कह कि इन दोनों में पाप बड़ा है और लाभ है लोगों के लिए, और पाप इन दोनों का बहुत बड़ा है इन दोनों के लाभ से . . .।' सूरतुऽन्-निसा (4) की आयत 43 इस प्रकार है – 'ऐ ईमान वालो! जब तक तुम नशे में हो तब तक नमाज़ के पास न जाओ, जब तक जानने की स्थिति में न हो कि तुम क्या कहते हो ...।' आगे सूरतुऽल्-माइदः (5) की आयत 90-91 में आता है – 'ऐ ईमान वालो! शराब और जुआ और पूजे जाने वाले पत्थर (अन्साब) और शकुन के तीर नापाक (रिज्स) हैं और शैतान के काम हैं। अतः तुम बचो इनसे, ताकि तुम्हारा कल्याण हो। निश्चय ही शैतान शराब और जुए से तुम्हारे बीच वैर और द्वेष उत्पन्न करना चाहता है और तुम्हें अल्लाह के स्मरण और नमाज़ से रोकना चाहता है। तो क्या तुम हो रुक जाने वाले?' बस, शराब वर्जित हो गयी।[53] यद्यपि वह स्पष्ट शब्दों में क़ुर्आन में कहीं हराम नहीं कही गयी है, हदीस में कही गयी है। किन्तु सूरतुऽन्-नह्ल (16) की आयत 66 और 67 में मनुष्य को अल्लाह के प्रसादों (निअ्मतों) का उल्लेख करते हुए कहा गया है '. . . (हमने तुम्हें दिये हैं) मेवे खजूरों के और अंगूरों के जिनसे तुम बनाते हो मादक द्रव्य/शराब और अच्छा खाना खाते हो।' लीजिए, यहाँ शराब अल्लाह की निअ्मत बन गयी। आपाततः प्रतीत होगा, और जो यह भेद न जानता हो वह तो मान ही बैठेगा, कि क़ुर्आन ने शराब को पहले वर्जित किया था, किन्तु बाद में हलाल कर दिया, जबकि स्थिति बिल्कुल विपरीत है।

प्रचलित क़ुर्आन में अक्षरी, वर्तनी, व्याकरण आदि की भूलें पायी जाती हैं, जिन्हें किताबत की (हस्तलेखीय) भूलें माना जाता है। कहते हैं कि ऐसी भूलें हज़्रत आयशा ने भी स्वीकार कीं। यह भी कहते हैं कि हज़्रत उस्मान के संज्ञान में भी इस प्रकार की कतिपय भूलें आयीं, किन्तु उन्होंने यह कह कर बात टाल दी कि सम्प्रति संशोधन करना उचित नहीं, कि लोग आगे स्वयं सुधार लेंगे। कुछ भूलें तो ऐसी हो गयी हैं जो साधारण अरबी-दाँ भी पकड़ सकता है। जैसे सूरतुऽत्-तह्रीम (66) की आयत 12 में इम्रान की बेटी मर्यम के लिए पुंल्लिग 'फ़ी-हि' (उसमें), लिखा है, जो स्त्रीलिंग, 'फ़ी-हा', होना चाहिए। वस्तुतः सूरतुऽल्-अंबिया (21) की आयत सं. 91 इसी आशय की है, किन्तु सही शब्द 'फ़ी-हा' के साथ। प्रचलित क़ुर्आन में अन्य भूलें भी ढूँढ़ी गयी हैं जिनका विवरण यहाँ आवश्यक नहीं। वस्तुतः आयतों के संकलन में आनुपूर्वी-व्यत्यय के ढेरों उदाहरण हैं जिनका विवरण यहाँ सम्भव नहीं। बुख़ारी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं।[54]

हदीसों आदि से यह भी पता चलता है कि क़ुर्आन का कुछ भाग नष्ट हो गया है। जैसे अबू मूसा अश्अरी का कथन है, 'हम (पैग़म्बर के काल में) एक सूरः पढ़ा करते थे, जिसे हम सूरतुऽत्-तौबः (9) के बराबर समझते थे, किन्तु वह सूरः भुला दी गयी। इस का केवल एक अंश मुझे स्मरण रह गया है ...। और एक सूरः हम और पढ़ा करते थे . . . . .। यह भी मुझको भुला दी गयी। केवल एक आयत उसकी मुझे याद रह गयी है. . .।'[55] इसी प्रकार हज़्रत आयशा कहती हैं कि 'क़ुर्आन मजीद में रज़ाअत (बच्चे के

दूध पीने की अवस्था) के दस ज्ञात भेदों को हराम ठहराया गया था, पुनः यह विधान पाँच ज्ञात भेदों से मन्सूख़ हो गया और पैग़म्बर के देहावसान तक उसका पाठ क़ुर्आन मजीद में जारी रहा।'[56] हज़्रत आयशा का कथन है कि सूरतुऽल्-अह्ज़ाब (33) में दो सौ आयतें हुआ करती थीं, किन्तु हज़्रत उस्मान की पोथी में उतनी ही रह गयीं जितनी हैं, अर्थात् बस 73 रह गयीं।[57] मालिक का कथन है कि सूरतुऽत्-तौबः (9) सूरतुऽल्-बक़रः (2) के बराबर थी (अर्थात् उसमें 286 आयतें थीं, जबकि अब 129 रह गयी हैं।) उसका प्रथम भाग नष्ट हो गया तो उसके साथ उसकी बिस्मिऽल्लाह भी नष्ट हो गयी।[58] केवल यही सूरः है जिसमें बिस्मिऽल्लाह ग़ायब है। उबैय बिन कअ्ब की दो सूरतें ग़ायब हैं सो अलग।

बाइबिल के पूर्व भाग पुराने अह्दनामें में व्यभिचार का दण्ड पत्थर मार-मार कर मार डालना है। इस्लाम भी इस दण्ड को मान्यता देता है। किन्तु क़ुर्आन में इस प्रकार का कोई विधान, कोई आयत, नहीं है। कहते हैं कि कभी थी, किन्तु प्रचलित क़ुर्आन के संकलन-काल में उपलब्ध नहीं हुई। हज़्रत उमर का वक्तव्य है, 'क़ुर्आन में अल्लाह ने आयतुऽर्रज्म (पत्थर मारने की आयत) उतारी, जिसे हमने पढ़ा, समझा, और याद रखा। अतएव रसूल ने रज्म किया (पत्थर मारने का दण्ड बरता) और उनके बाद हमने रज्म किया। मैं डरता हूँ कि लोगों पर एक ऐसा ज़माना भी आयेगा कि कोई कहने वाला कहेगा कि अल्लाह की किताब में तो हमें रज्म की आयत मिलती ही नहीं। ... रज्म का विधान क़ुर्आन की दृष्टि से सच्चा है, जो भी विवाहित व्यभिचार करे चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, जबकि गवाही पक्की हो जाय या गर्भ स्थापित हो जाय या स्वयं स्वीकार करे।'[59]

स्पष्ट है कि हज़्रत उमर रज्म की आयत को क़ुर्आन का भाग समझते थे, प्रचलित क़ुर्आन में वह लुप्त है। अबू दाऊद ने इस प्रकरण में यह जोड़ा है कि हज़्रत उमर के काल में ही यह आयत लुप्त हो चुकी थी और कि उन्होंने कहा कि यदि प्रक्षेप के आरोप का भय न होता तो वे उसे क़ुर्आन में प्रविष्ट कर देते।[60]

हज़्रत उमर का इसी सिलसिले में यह भी बयान बुख़ारी ने निबद्ध किया है कि रज्म की आयत के बाद क़ुर्आन में पहले हम यह भी पढ़ते थे कि अपने बाप-दादा को छोड़ दूसरों को बाप-दादा बनाना कुफ़्र है अथवा यह कुफ़्र है कि अपने बाप-दादा के सम्बन्ध से मुँह फेरा जाये।[61] हज़्रत उमर ने रज्म की आयत के साथ-साथ एक और आयत का उल्लेख किया है, वयस्क को रिज़ाअत (दस बार दूध चुसा देने) की आयत। ये दोनों, रज्म और रिज़ाअत की आयतें जिस काग़ज़ पर अंकित थीं वह हज़्रत आयशा के बिस्तर के तले रखा था, जिसे एक बक़री चबा गयी।[62] रिज़ाअत की आयत की चर्चा ऊपर आ चुकी है।

हम ऊपर यत्र-तत्र अनुषंगतः मन्सूख़ आयत शब्द का प्रयोग करते आये हैं। उस पर विचार करने का प्रसंग अब आया है। जैसा कि क़ुर्आन का हर पाठक साक्षी है, उसकी दर्जनों, कोड़ियों, बल्कि कइयों के अनुसार सैकड़ों आयतों में विरोधाभास पाया जाता है,

जिसका परिहार प्रायः कठिन अथवा नितान्त असमभव हो गया है। अतः आदि काल से ही मान लिया गया है कि क़ुर्आन की कतिपय उत्तरावतीर्ण आयतें कतिपय पूर्वावतीर्ण आयतों को मन्सूख़, निरस्त, करती हैं। उनको निरसक (नासिख) कहा जाता है। क़ुर्आन में निरस्त और निरसक आयतों का अभिज्ञान नहीं कराया गया है, वह सर्वथा कल्पनाप्रसूत है। यही कारण है कि निरस्त आयतों के अभिज्ञान और संख्या के विषय में भारी मतभेद पाया जाता है, यहाँ तक कि कुछ के मत में निरस्त आयतों की संख्या 5 है तो अन्य मतों में यह संख्या बढ़ते-बढ़ते 500 तक पहुँच जाती है। अकेले सूरतुऽत्-तौबः (9) की पाँचवीं, जिहाद की आयत ने, इब्नुऽल्-अरबी के अनुसार, 124 आयतें मन्सूख़ की हैं।[63] बल्कि अबू मुस्लिम बिन बह्र इस्फ़हानी (मृत्यु 322 हि. /934 ई.), पैग़म्बर के साक्षात् शिष्य उबैय बिन कअ्ब, तथा कई आधुनिक अनुवादक और भाष्यकार एक भी आयत निरस्त नहीं मानते। हज़्रत उमर उबैय बिन कअ्ब से असहमत थे।[64] हज़्रत अली निरसन सिद्धान्त के सबसे बड़े पक्षपाती थे। एक व्यक्ति लोगों को क़ुर्आन समझा रहा था। हज़्रत अली ने उससे पूछा, 'क्या तुम्हें निरसक और निरस्त आयतों का पता है?' उसने नकारात्मक उत्तर दिया। इस पर हज़्रत अली बोले, 'तू स्वयं नरक में जायेगा और अन्यों को भी ले जायेगा।'[65]

नासिख़ और मन्सूख़ की अवधारणाओं का आधार क़ुर्आन, सूरतुऽल्-बक़रः (2) की आयत 106, सूरतुऽर्-रअ्द (13) की आयत 39, और सूरतुऽन्-नह्ल (16) की आयत 101 में पाया जाता है। इनमें से पहली आयत इस प्रकार है, 'हम जो आयतें मन्सूख़ करते हैं या जिन्हें हम भुला देते हैं, उन से बेहतर या उनके सदृश आयतें लाते हैं ...।' दूसरी आयत है, 'अल्लाह जिस आयत को मिटाना चाहता है उसे मिटा देता है और (जिस आयत को अक्षुण्ण रखना चाहता है उसे) अक्षुण्ण रखता है, और उसके पास ग्रन्थ-माता (उम्मुऽल्-किताब) है'। और तीसरी आयत है, 'और जब उसे बदल डालते हैं एक आयत को एक (अन्य) के स्थान पर (तो) अल्लाह सब जानता है उस चीज़ को जिसे उतारता है...।' प्राचीनों में अबू मुस्लिम बिन बह्र इस्फ़हानी अकेला विद्वान् है जो क़ुर्आन में नासिख़ और मन्सूख़ नहीं मानता। उसका कथन है कि यहाँ आयतों के बदलने या मन्सूख़ करने का तात्पर्य है पुरानी शरीअतों के बदलने या मन्सूख़ करने से। सर सय्यिद अहमद ख़ाँ अबू मुस्लिम से पूर्णतया सहमत हैं। वे भी क़ुर्आन में नासिख़ और मन्सूख़ आयतें नहीं मानते। द्रष्टव्य उनकी तफ़्सीरुऽल्-क़ुर्आन, अल्-बक़रः (2) 106 (उनके संस्करण में 100), खण्ड 1, पृष्ठ 162-164। इमाम फ़ख़्रुऽद्-दीन राज़ी क़ुर्आन में नासिख-मन्सूख़ मानते हैं, किन्तु उक्त आयत के आधार पर नहीं, बल्कि शेषोक्त दो आयतों के आधार पर। प्रथमोक्त आयत को वह यह कह कर टाल देते हैं कि उसमें प्रयुक्त 'मा' (जो) शब्द इस बात का द्योतक है कि यहाँ शर्त (हेतु) और जज़ा (फल) अभिप्रेत है। जैसे कोई कहे, 'जो कोई तेरे पास आये तू उसका अभिवादन कर।' इससे किसी का सचमुच आना सिद्ध नहीं होता, बल्कि आशय केवल इतना निकलता है कि जब कोई आये तो ऐसा करना चाहिए। इसी

प्रकार उक्त प्रथम आयत मन्सूख़ हो या भूल जाये, तो उसके स्थान पर दूसरी वैसी ही या उससे अच्छी आयत लायी जायेगी (वही, पृ. 164)।

इस तर्कणा में खोट प्रतीत होती है। यदि कुर्आन में कोई मन्सूख़ अथवा विस्मृत आयत है ही नहीं, तो उक्त विधान निरर्थक और निष्प्रयोजन हो जाता है, और निष्प्रयोजन विधान की आवश्यकता ही क्या है?

अस्तु, सर सय्यिद हदीस से कुर्आन के निरसन को तो और नहीं मानते (वही, पृ. 169)।

मौलाना अबुऽल्-कलाम आज़ाद भी प्रथम आयत के भाष्य में आयत का अर्थ (प्राचीन) शरीअत ही लेते हैं (तर्जुमानुऽल्-कुर्आन, उक्त आयत 106 पर भाष्य, द्वितीय सं., पृ. 247-248)। तथापि उन्होंने अन्यत्र कुर्आन में नासिख़-मन्सूख़ की सत्ता स्वीकार की है। यह कम लोगों को ज्ञात है, अतः मौलाना आज़ाद का तद्विषयक वक्तव्य उदाहृत किया जाता है – 'रहा नस्ख़ (निरसन) और हक़ीकत (परमार्थ) और मजाज़ (व्यवहार) और तक़ईद (सामान्य-विशेष विवेक) आदि, इससे तो इन्कार नहीं, किन्तु किताब (कुर्आन) और सुन्नत (हदीस) के निरस्त अंश अति-न्यून और गिने हुए हैं। कुर्आन की मन्सूख़ आयतें .. घटतें-घटते इत्क़ान में बीस तक पहुँचीं और फ़ौज़ुऽल्-कबीर में पाँच तक। हदीस की मन्सूख़ात इब्न जौज़ी की गवेषणा में इक्कीस, महाविद्वान् इब्न तैमीयः के निकट दस, और परम विद्वान् इब्न क़य्यिम कहते हैं कि इससे कम, और वक्तव्य अब भी शेष है।' अबुऽल्-कलाम आज़ाद, तज़्किरः, मालिक राम, सं., तृतीय सं., नयी दिल्ली, 1985, पृ. 59।

अच्छा, मन्सूख़ आयतें तीन प्रकार की हैं – (1) मन्सूख़ुऽत्-तिलावति वऽल्हुक्म, अर्थात् वे आयतें जिनका पाठ और प्राविधान दोनों निरस्त हो गये; (2) मन्सूख़ुऽत्-तिलावः अथवा वे आयतें जिनका पाठ अक्षुण्ण है और कर्त्तव्य भी है, किन्तु प्राविधान निरस्त हो गया। इस भेद का भी आधार कुर्आन में अनुपलब्ध है। आश्चर्य है कि कुर्आन में निरस्त आयतों का प्राविधान अक्षुण्ण और पालनीय बताया गया है। यहाँ रज्म की आयत का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु यह आयत नष्ट हो गयी या निरस्त कर दी गयी, यह कौन बतलायेगा? हज़्रत उमर ने उसके प्राविधान का पालन इसलिए जारी रखा कि वे उसे दुर्योगात् नष्ट समझते थे, निरस्त होने की कल्पना तो बाद के लोगों ने की। दूसरे प्रकार की निरस्त आयत की बात तो समझ में आती है। जब आयत ही नहीं तो उस का प्राविधान कैसा? और तीसरे प्रकार की आयतें जिन का पाठ कर्त्तव्य है किन्तु प्राविधान आचरितव्य नहीं, कुर्आन में रहने ही क्यों दी गयीं? अल्लाह अथवा पैग़म्बर ने तो ऐसी व्यवस्था की नहीं। हम समझते हैं कि यदि पैग़म्बर को आयतों को संकलन का अवसर मिला होता तो वे इन आयतों को कुर्आन में प्रविष्ट ही नहीं करते।

लगता है कि वस्तुस्थिति स्पष्ट न होने के कारण जो भी आयतें प्रकाश में आयीं सब कुर्आन में भर ली गयीं; जिन आयतों पर आचरण होने लगा था, किन्तु जो मिल नहीं पायीं, उन का पाठ निरस्त मान लिया गया (रज्म की आयत को छोड़ कर); और जो आयतें

नहीं मिल पायीं और जिन की निरस्तता का निश्चय था, उन्हें क़ुर्आन में प्रविष्ट नहीं किया गया।

कहते हैं कि लगभग 60 आयतें पैग़म्बर के जीवन-काल में ही मन्सूख़ मान ली गयी थीं। यह भी कहते हैं कि 43 सूरतों नें न निरसक है न निरस्त, 25 सूरतों में दोनों हैं, 40 सूरतों में केवल मन्सूख़ आयतें हैं, और 6 सूरतों में केवल निरसक आयतें हैं।[66]

अनुमानतः ढेर सारी आयतें खो गयी या विस्मृति के गर्भ में समा गयी होंगी। कहते हैं कि ज़ैद बिन साबित द्वारा क़ुर्आन संकलित हो जाने के बाद एक आयत सूरतुऽल्-अह्ज़ाब (33) की[67] और सूरतुऽत्-तौबः (9) की अन्तिम दो आयतें एक व्यक्ति, ख़ुज़ैमः अन्सारी, के पास मिलीं और पुस्तक में प्रविष्ट कर ली गयीं। ये अन्य किसी के पास नहीं थीं।[68] लगता है कि यहाँ दो गवाहों द्वारा पुष्टि के नियम का भी ध्यान नहीं रखा गया। वस्तुतः स्वयं पैग़म्बर भी विस्मृति-नियम के अपवाद नहीं थे। उन्होंने एक व्यक्ति को क़ुर्आन पढ़ते हुए सुन कर कहा कि अल्लाह उस पर दया करे कि उस ने अमुक-अमुक सूरतों की अमुक-अमुक आयतें मुझे याद करा दीं, जो मेरे स्मृतिपटल से लुप्त हो गयी थीं।[69]

यदि हदीसों का पर्यवेक्षण किया जाय तो उन में अल्लाह के कई वचन मिल जायेंगे जो क़ुर्आनों में समाविष्ट नहीं हैं। उदाहरणतः अल्लाह ने पैग़म्बर से कहा, तुम ख़र्च करो, मैं तुम पर ख़र्च करूँगा।[70] वहीं यह भी है, हज़्रत ख़ुदैजः को 'इन के स्रष्टा की ओर से सलाम कहो और इन्हें मोती के एक महल का शुभ संवाद (बशारत) दो जिस में न ज़रा भी कोलाहल होगा और न किसी प्रकार का कष्ट।'[71] और अल्लाह ने कहा, 'मैं ने अपने नेक बन्दों के लिए वस्तु तैयार कर रखी है जो न किसी ने आंख से देखी और न कान से सुनी और न किसी मनुष्य के मन में जिन का विचार ही आया।'[72] इसी प्रकार अल्लाह कहता है, 'जब मेरा बन्दा बुरे काम का इरादा करे तो उस की बुराई न लिखो जब तक उसे कर न ले, और जब उसे कर ले तो उस के बराबर ही लिखो, और यदि मेरे कारण उसे त्याग दे तो उस के लिए एक नेकी लिख दो, और जब वह नेकी करने का इरादा करे और अभी की न हो तब भी उस के लिए एक नेकी लिख दो, और उसे वह कर ले तो उस के लिए दस गुना से सात गुना तक लिखो।'[73]

अवश्य ही, इन में से अन्तिम वाक्य फ़िरिश्तों के लिए अभिप्रेत है, तथापि यही कह कर उस का भी उक्त अन्य वाक्यों के साथ क़ुर्आन में समावेश सर्वथा साम्प्रत होता।

यह मानना ही होगा कि प्रचलित क़ुर्आन अधूरा है। ज़ुहरी का कथन है कि क़ुर्आन की बहुत सारी आयतें जो लिपिबद्ध नहीं की जा सकीं थीं केवल उन हाफ़िज़ों (स्मृति में धारण करने वालों) को याद थीं जो यमामः के युद्ध में मारे गये।[74] फलतः वे आयतें सदा के लिए लुप्त हो गयीं। हज़्रत उमर और ज़ैद बिन साबित ने दो गवाहों की शर्त लगा कर यह तो सुनिश्चित कर लिया कि क़ुर्आन की पोथी में कोई अप्रामाणिक आयत प्रविष्ट न होने पाये, किन्तु साथ ही यह ख़तरा भी मोल लिया कि एकाकी साक्ष्य (ख़बरुऽल्-वाहिद) सर्वथा अविश्वसनीय और अप्रामाणिक माने जाने के कारण आयतों की एक अच्छी-ख़ासी

संख्या छँट कर नष्ट हो गयी। इस के अतिरिक्त इस सम्भवना को भी नकारा नहीं जा सकता कि मुहम्मद साहेब की पैग़म्बरी के आरम्भ में अवतीर्ण आयतों में से कुछ को बचाया नहीं जा सका होगा, क्योंकि पैग़म्बर पर्याप्त साक्षर नहीं थे और तब उन का कोई अनुयायी भी नहीं था।

वस्तुतः अब्दुऽल्लाह बिन उमर तो यहाँ तक कह गये हैं, "तुम में से किसी को यह नहीं कहना चाहिए, 'मेरे पास कुर्आन है'। वह क्या जानता है कि पूरा कुर्आन क्या है? कुर्आन का बहुत कुछ चला गया है (ज़ ह ब)। उसे कहना चाहिए, 'मेरे पास उतना (कुर्आन) है जितना बचा है'।"[74क]

III

कुर्आन के बाद हदीस का नम्बर आता है, जिस का सम्बन्ध प्रस्तुत प्रकरण से क्रमशः जुड़ेगा। यदि कुर्आन में अल्लाह की पैग़म्बर-श्रुत आयतें संगृहीत हैं तो हदीस में पैग़म्बर की अल्लाह-प्रेरित मौखिक और आचरित शिक्षाएं (सुन्नः/सुन्नत) संगृहीत हैं। हदीस में अन्य, ऐतिहासिक आदि, सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में समाविष्ट है, जिसे 'आसार' कहते हैं। इस प्रकार हदीस में द्विविध सामग्री का समावेश है – पैग़म्बर की उक्तप्रकारेण द्विविध शिक्षाएं और अन्य सामग्री। इन में से पूर्वोक्त को अल्लाह-प्रेरित (वह्य) माना जाता है। इस मान्यता का आधार कुर्आन, सूरतुऽन्-नज्म (53) 3-4, में ढूढाँ गया है, जो इस प्रकार हैं – 'वह (पैग़म्बर) अपनी कामना से नहीं बोलता। (वह जो बोलता है) वह तो वह्य (अल्लाह का वचन) है जो उसे भेजी जाती है।' वैसे, यहाँ सन्दर्भ कुर्आन का प्रतीत होता है। अस्तु, तथोक्त अल्लाह-प्रेरित हदीस को 'हदीसुऽल्-कुद्सी' (पवित्र, दिव्य हदीस) संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार यदि कुर्आन अल्लाह का वचन (वह्य इलाही) है, तो हदीसुऽल्-कुद्सी अल्लाह-प्रेरित अथवा अल्लाह-प्रदत्त ज्ञान अथवा आदेश है। 'वह्य' दोनों हैं। इनमें एक अन्तर यह किया गया है कि कुर्आन वह्य मत्लू (नित्य पठ्य) है, अर्थात् उसका नित्य पाठ कर्त्तव्य है, अनिवार्य है। जबकि हदीसुऽल्-कुद्सी वह्य ग़ैर-मत्लू है, अर्थात् उसका नित्य पाठ अनिवार्य नहीं।[75] हदीसुऽल्-कुद्सी को सुन्नः/सुन्नत भी कहने की प्रथा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हदीसुऽल्-ग़ैर-मत्लू को भी कुर्आनवत् प्रामाणिकता प्राप्त है। हम आगे हदीसुऽल्-कुद्सी के लिए लाघवार्थ केवल हदीस शब्द का प्रयोग करेंगे।

अब, इनके बलाबल का विचार कीजिए। एक मत यह है कि कुर्आन स्वतः प्रमाण है जबकि हदीस परतः प्रमाण। फलतः कुर्आन और हदीस में टकराव की स्थिति में हदीस को दबना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हदीस के संकलन में वह सावधानी और चौकसी नहीं बरती गयी जो कुर्आन के संकलन में बरती गयी थी। दूसरा मत यह है कि चूँकि कुर्आनवत् हदीस भी अल्लाह की ओर से है, अतः उसे कुर्आन से अवर समझना भूल होगी। बल्कि कहीं-कहीं तो हदीस कुर्आन का निरसक भी बन जाती है।[76]

उदाहरण लें। कुर्आन की दायभाग-विषयक आयतों – सूरतुऽल्-बक़रः (2) 180, 240; सूरतुऽन्-निसा (4) 11 आदि — को पैग़म्बर ने मुस्लिम-काफ़िर उत्तराधिकार और

दास-अदास उत्तराधिकार वर्जित कर मन्सूख़ कर दिया। साथ ही साथ माता-पिता और निकटतम सम्बन्धियों के दायभाग के सम्बन्ध में वसीयत करने का अधिकार जो उक्त आयतों ने दिया था वह भी हदीस द्वारा निरस्त हो गया। कुर्आन, सूरतुऽन्-निसा (4), आयत 23 में एक साथ माता और पुत्री और दो बहनों का विवाह वर्जित है। किन्तु हदीस ने किसी स्त्री और उसकी फूफी या मौसी से एक साथ विवाह वर्जित कर दिया और यह भी जोड़ा कि यदि किसी ने ऐसा किया तो भ्रूणहत्या की। वस्तुतः हदीस में धात्रेय (रिज़ाई) सम्बन्धों और ख़ून के रिश्तों को जोड़ कर कुर्आन-प्रतिपादित मह्रमों (अगम्याओं, जिनसे विवाह वर्जित है) की संख्या बढ़ा दी गयी। कुर्आन में हराम (निषिद्ध) और हलाल (विहित) खाद्यों में स्पष्ट भेद प्रतिपादित है। सूरतुऽल्-बक़रः (2) 172-173 और सूरतुऽल्-माइदः (5) 3, 5, 90 में हराम खाद्यों की सूची देकर सूरतुऽल्-माइदः (5) 87-88; अल्-अअ्राफ़ (7) 32; अन्-नह्ल (16) 116; और सूरतुऽत्-तह्रीम (66)1; में कहा गया है कि शेष सभी खाद्य हलाल हैं, जिन्हें कोई हराम नहीं कर सकता। यहाँ तक कि पैग़म्बर भी नहीं (अत्-तह्रीम)। पैग़म्बर इस विधान को पूर्ण मान्यता देते हैं (मुस्लिम I, अध्याय 201, हदीस 519), किन्तु अन्यत्र (अबू दाऊद, कराची, II, हदीस 1286, पृ. 517) व्यवस्था देते हैं कि प्रस्तुत प्रकरण में उनके आदेश कुर्आन से कम नहीं बल्कि अधिक ही हैं। (मिस्लुऽल्-कुर्आनि व अक्सर)। अन्तिमोक्त आयत में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पैग़म्बर भी हलाल को हराम नहीं कर सकता। किन्तु पैग़म्बर ने पालतू गधों, हिंस्र पशुओं, पंजेदार पक्षियों का मांस हराम कर दिया।[77] कुर्आन, सूरतुऽल्-माइदः (5)5 में ग्रन्थी (अह्लुऽल्-किताब, जिस जाति को आस्मानी पुस्तक प्राप्त हो) द्वारा वध किये हुए पशु का मांस मुसल्मानों के लिए हलाल है और ग्रन्थियों और मुसल्मानों के बीच विवाह सम्बन्ध भी विहित है, किन्तु हज़्रत उमर ने इन विधानों को लगभग निरस्त कर दिया।[78] कुर्आन, सूरतुऽन्-निसा (4)15 में व्यभिचारिणी के लिए कमरे में बिना दाना-पानी के बन्द रख कर मरने देने का दण्ड और व्यभिचारी के लिए इच्छानुकूल दण्ड (तत्रैव 16) का विधान था, किन्तु, सूरतुऽन्-नूर (24)2 में दोनों के लिए 100 कोड़े का दण्ड प्रतिपादित कर के इन दोनों आयतों को निरस्त कर दिया गया। जैसा ऊपर निवेदन किया गया है, कहा जाता है कि अन्ततः यह आयत भी रज्म (पत्थर मार-मार कर प्राण-दण्ड) की आयत से निरस्त हो गयी, जो अब प्रचलित कुर्आन में समाविष्ट नहीं है। किन्तु पैग़म्बर ने इन विधानों में भी परिवर्तन कर के 100 कोड़े का दण्ड कुमार-कुमारी समागम तक सीमित कर दिया, उस में एक वर्ष के निर्वासन का दण्ड जोड़ दिया, और रज्म को विवाहित-विवाहिता समागम के लिए विशिष्ट कर दिया।[79] निर्वासन दण्ड की उक्त व्यवस्था हज़्रत उमर के काल में भी कुछ दिन चली, किन्तु उन्होंने उसे अन्ततः निरस्त कर दिया।[80] इस प्रसंग में हज़्रत अली के एक विशेष निर्णय का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने एक व्यभिचारिणी को कोड़े भी लगवाये और रज्म भी कराया। पूछने पर उन्होंने कहा, 'मैं ने उसे पैग़म्बर की सुन्नत के

अनुसार रज्म किया और अल्लाह की किताब के अनुसार कोड़े लगवाये।'[81] यहाँ रज्म को क़ुर्आनी नहीं, हदीसी बतलाया गया है।

हज़्रत उमर ने इस सन्दर्भ में दो और नवारम्भ किये। एक ऐसे व्यक्ति को उन्होंने चेतावनी दे कर छोड़ दिया जिसे व्यभिचार के निषेध का ज्ञान नहीं था।[82] ऐसी ही एक और स्त्री के विषय में हज़्रत अली ने निवेदन किया कि 'वह इस तरह बातें करती हैं जिस तरह वह व्यक्ति करे जिसे व्यभिचार के निषिद्ध होने का ज्ञान न हो।' यह सुन कर हज़्रत उमर ने उसे व्यभिचार के दण्ड से मुक्त कर दिया।[83] एक अन्य मामला —एक स्त्री ने स्वीकार किया कि उस ने व्यभिचार किया है, किन्तु वह व्यभिचारी को पहचानती नहीं थी। यह देख कर हज़्रत उमर ने उसे दण्ड से मुक्त कर दिया।[84] एक अन्य प्रकरण में हज़्रत उमर ने एक ज़िम्मी को व्यभिचार के अपराध में रज्म की जगह शूली का दण्ड दिया।[85] इस्लामी धर्मशास्त्र की यह भी व्यवस्था है कि तौबः (पश्चात्ताप) से सभी हदें (अवश्यदापनीय दण्ड) निरस्त हो जाती है।[86]

वस्तुतः पैग़म्बर भी व्यभिचारियों को यदा-कदा यूँ ही छोड़ दिया करते थे और अल्लाह द्वारा कुर्आन में प्रतिपादित दण्ड सम्बन्धी लक्ष्मण-रेखाओं की, जिन्हें हुदूदुऽल्लाह (अल्लाह द्वारा निर्धारित सीमाएं) कहते हैं, परवाह नहीं करते थे।[87]

पैग़म्बर का आदेश था कि उक्त हुदूद से भिन्न लौकिक दण्डों में दस कोड़े से अधिक न लगाये जायं[88], किन्तु हज़्रत उमर ने एक जाली मुहर बनाने वाले को सौ कोड़े लगवाये।[89]

हज़्रत उमर का सब से चौंकाने वाला निर्णय अभी वर्णित नहीं हुआ। एक स्त्री ने किसी पुरुष से धन की याचना की। पुरुष ने बदले में स्त्री के ऊपर अधिकार की माँग की। जब वे दोनों व्यभिचार के अपराध में पकड़े गये तो हज़्रत उमर ने यह कह कर उन्हें मुक्त कर दिया कि उक्त धन उस स्त्री का मह्र (स्त्रीधन) है (अर्थात् उन की स्थिति पति-पत्नी जैसी हुई)। इस आधार पर इमाम अबू हनीफ़ः ने व्यवस्था दी है कि किराये पर ली गयी स्त्री से समागम की दशा में हद्द (रज्म का दण्ड) नहीं लगेगी।[90] इस पर मौलाना तक़ी अमीनी लिखते हैं, 'उपर्युक्त स्पष्टीकरण के अनुसार वाराङ्गनाओं और उन से सम्बद्ध व्यसनी अपराधियों पर व्यभिचार का दण्ड उपपन्न नहीं होगा।[91]

क़ुर्आन, सूरतुऽल्-माइदः (5)35, में चोरी के लिए हाथ काटने का विधान है, किन्तु हदीस में कुछ छोटी चोरियों – रात में खुले मवेशियों, सूखने के लिए डाले गये खजूरों के भाण्डार से पृथक् पड़े हुए खजूरों, तालफल, और चौथाई दीनार से कम मूल्य की सभी वस्तुओं की चोरी – के लिए उक्त दण्ड से छूट दी गयी है। पैग़म्बर ने युद्ध और यात्रा में भी चोर का हाथ काटना वर्जित कर दिया। वे कभी-कभी चोर को यूँ ही छोड़ देते थे। हज़्रत उमर ने एक बार हाथ काटने की जगह चोरी गये माल का दूना दण्ड लगाया।[92]

इस्लाम कुर्आन को अल्लाह-वचन (वह्य) मानता है। वह्य की परिभाषा न देकर उस के भेदों का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा, जिन्हें इस्लाम की स्वीकृति प्राप्त है–

1. वह्य जड़ पदार्थों, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि के प्रति। जैसे अल्लाह ने हर आस्मान के गुण-कर्म की वह्य की। (कु, सूरःहामीमऽस्-सज्दः (41)11-12), मधुमक्खी को पहाड़ में छत्ता बनाने की वह्य की (सूरतुऽन्-नह्ल (16) 68-69)।
2. वह्य फ़िरिश्तों के प्रति, जैसे अल्लाह ने फ़िरिश्तों को मुसल्मानों की सहायता और काफ़िरों को सताने की वह्य की (सूरतुऽल्-अन्फ़ाल (8)12))
3. वह्य मनुष्यों के प्रति
   1) सर्वसाधारण के प्रति, जिसे रूया (स्वप्नदर्शन), कश्फ़ (अवभास), और इल्हाम (दैवी प्रेरणा) भी कहते हैं। जैसे अल्लाह ने मनुष्यों के हृदय में नेकी और बदी का इल्हाम किया (सूरतुऽश्-शम्स (91)8)
   2) पैग़म्बर के प्रति
4. सब के प्रति शैतान की ओर से, जिसे वह्य ख़फ़ी या वस्वसः कहते हैं

मुहम्मद साहेब को प्राप्त वह्य के भेद (मरातिबुऽल्-वह्य) इस प्रकार हैं–

1. मुबश्शिरात (शुभसूचक स्वप्नदर्शन)। कहते हैं कि उन पर उतरी हुई कुल वह्य का 46वां भाग मुबश्शिरात ही हैं
2. अल्लाह का स्वप्न में प्राकट्य
3. हृदय में फूँकना (नफ़स)
4. घंटे की-सी ध्वनि/ अनुणन
5. फ़िरिश्ते का मानव-विग्रह में प्राकट्य
6. स्वर्ग में अल्लाह से आमने-सामने संवाद, जैसे उद्गमन (मिअ्राज)-काल में
7. आवृत अल्लाह से साक्षात् संवाद
8. अनावृत अल्लाह से साक्षात् संवाद

पहली वह्य चालीस-वर्षीय पैग़म्बर मुहम्मद पर हिरा की गुफा में उतरी थी, जहाँ वे प्रायः ध्यान (तहन्नुस) के निमित्त जाया करते थे। एक दिन उन्हें लगा कि कोई उन्हें आदेश दे रहा है "पढ़"। मुहम्मद साहेब ने अपने को निरक्षर बतलाया, तो आदेष्टा ने उन्हें इतना भींचा कि वे श्रान्त-क्लान्त हो कर पस्त हो गये। फिर उस ने उन्हें सूरतुऽल्-अलक़/ पूरतुऽल्-इक़्रा में समाविष्ट प्रथम आयत सुनायी। मुहम्मद साहेब काँपते-हाँफते और भय से चिल्लाते हुए घर पहुँचे और समझा कि वे अब नहीं बचेंगे। उन की तब एकमात्र, 55-वर्षीया पत्नी ख़दीजा उन्हें एक सन्त वरक़ बिन नौफ़ल के पास ले गयी। वरक़ः ने उन की पैग़म्बरी को पहचाना। आदेष्टा फ़िरिश्तः जिब्रील सिद्ध हुआ, जो मुहम्मद साहेब को अल्लाह-वचन प्रदान करने आया था। (तथापि वरक़ः मुसल्मान न हो कर आगे चल कर ईसाई हो गया।)

वह्य-अवतरण-क्षण में मुहम्मद साहेब को असह्य शारीरिक पीड़ा और क्लान्ति होती थी। उन के लिए सर्वाधिक पीड़ादायक वह्य घंटे की ध्वनि थी, जिस से वे शीत-ऋतु में भी पसीने-पसीने हो जाया करते थे, और अपने ऊपर इतना भार अनुभव करते थे कि यदि वे ऊंट पर सवार होते तो लगता कि ऊंट चूर-चूर हो जायेगा।

एक अन्य परम्परा के अनुसार मुहम्मद साहेब पर सर्वप्रथम सूरतुऽल्-मुद्दस्सिर (74) की आयत 1-7 हिरा से लौटते समय अवतरित हुई।

अस्तु, कुछ व्यवधान (फ़त्रः) के बाद, जिस की अवधि प्रायः 2 से 3 वर्ष की बतलायी जाती है, वह्य का सिलसिला पुनः आरम्भ हुआ। व्यवधान की अवधि कोई दो वर्ष बतलाता है, कोई ढाई वर्ष, और कोई तीन वर्ष। इब्न सअ्द लिखता है कि इब्न अब्बास के अनुसार यह अवधि मात्र कुछ दिनों की थी।

एक बार तो शैतान ने जिब्रील की आवाज़ में अपनी आवाज़ मिला कर मुहम्मद साहेब पर कुछ आयतें उतार दीं, जिन में काबे की प्रमुख देवियों – लात, मनात, और उज़्ज़ा की प्रशंसा थी। घटना इस प्रकार है। पैग़म्बर का मिशन (दअ्वः) सफल नहीं हो रहा था और चारों ओर उन के विरोध का वातावरण व्याप्त था। वे 40-50 से अधिक अनुयायी (मुसल्मान) नहीं बना सके थे। अतः वे अपने क़बीले, कुरैश, के तुष्टीकरण का उपाय सोच रहे थे। एक दिन वे कुरैश-प्रमुखों की सभा में उपस्थित हुए और उन पर आयतें उतरने लगीं, जिन का वे वहीं वाचन करने लगे। उन के संकलन की सूरतुऽन्-नज्म (53) संज्ञा है। वे जब इस आयत पर पहुँचे – 'तुम लात, मनात, और तीसरी उज़्ज़ा के विषय में क्या सोचते हो?' —, तब (कहते हैं कि) शैतान ने जिब्रील की आवाज़ में अपनी आवाज़ प्रक्षिप्त कर के पैग़म्बर के मुख से ये शब्द निकलवा दिये – 'ये महिमामयी देवियाँ हैं, जिन की (अल्लाह के यहाँ बन्दों की) सिफ़ारिश प्रार्थनीय है।' इस पर कुरैश के लोग आह्लादित हुए और कहने लगे कि मुहम्मद ने हमारी देवियों को उपास्य मान लिया है, अतः हम सब उन के साथ हैं। यह समाचार हब्श (इथियोपिया) देश तक पहुँचा जहाँ पैग़म्बर के कुछ अनुयायी हिज्रत (निष्क्रमण) कर गये थे। वे लौटे, किन्तु तब तक पैग़म्बर ने उक्त (दो) आयतों को शैतानी आयतें घोषित कर दिया था और कुरैश से खटपट पुनः आरम्भ हो गयी थी। कहते हैं कि मुहम्मद साहेब को पछतावा हुआ और अल्लाह ने उन्हें उन के बदले अन्य आयतें दे दीं जो उक्त सूरः में आयत 19-23 के रूप में वर्तमान हैं। अल्लाह ने एक और आयत द्वारा, जो सूरतुऽल्-हज्ज (22) की 52वीं आयत हैं, उन्हें सान्त्वना दी – 'नहीं भेजा हम ने तुझ से पहले कोई रसूल या नबी सिवाय इस के कि वह जब (कुछ कहना) चाहता तब शैतान उस में हस्तक्षेप कर देता। अतः अल्लाह निरस्त कर देता है उस शब्द को जो डाल देता है शैतान . . . ।'

कौन जाने, कुर्आन में कुछ और तथोक्त शैतानी आयतें रही हों, जिन का संशोधन करने वाली आयतें खो गयी हों। अस्तु।

यह घटना तबक़ात इब्न सअ्द में वर्णित है।[93] तबरी ने भी इस का वर्णन किया है। बैहक़ी, नववी, और कुछ अन्य लेखक इसे कपोलकल्पित मानते हैं, किन्तु तबरी, मूसा इब्न अक़बः (इमाम मालिक के गुरु), इब्न हजर अस्क़लानी जैसे हदीस-मर्मज्ञ इसे पूरी मान्यता देते हैं। इस घटना के विवरण तीन भिन्न-भिन्न सूत्रों (इस्नाद) से प्राप्त हुए हैं जो प्रामाणिकता (सहीह) की शर्तों पर खरा उतरते हैं।

वह्य के सम्बन्ध में एक अन्य घटना भी उल्लेखनीय है। पैग़म्बर का लिपिक अब्दुऽल्लाह बिन सअ्द इन के वह्य के दावे को ढोंग समझ कर इस्लाम से फ़िर गया। पैग़म्बर अब्दुऽल्लाह को कुछ सद्यः अवतरित आयतें लिखवा रहे थे जो सूरतुऽल्-मुअ्मिनून (23) में संगृहीत हैं। जब वे 14वीं आयत के उपान्त तक पहुँचे तो अब्दुऽल्लाह के मुख से निकल पड़ा– 'फ़ तबारक अल्लाह अह्सनुऽल्-ख़ालिक़ीन' (अल्लाह बरकत वाला है, स्रष्टाओं में सर्वश्रेष्ठ)। पैग़म्बर ने कहा – हाँ ऐसा ही उतरा है, लिख लो। वे शब्द आज भी उक्त आयत के अन्तिम शब्द हैं। अस्तु, इस पर अब्दुऽल्लाह को सन्देह हुआ – यदि मुहम्मद सच्चे हैं तो निश्चय ही जैसे उन पर वह्य आयी वैसे मुझ पर भी वह्य आयी, और यदि वे झूठे हैं तो निश्चय ही जैसे उन्होंने कहा वैसे मैंने कहा फिर वह इस्लाम से फ़िर कर मक्के चला गया। इस पर अल्लाह ने एक अन्य आयत भेजी जो सूरतुऽल्-अन्आम (6) की 94वीं आयत है और जिसका आशय यह है कि वह बड़ा ज़ालिम है जो अल्लाह पर यह झूठ बाँधता है कि उस पर वह्य आयी जब कि उस पर कोई वह्य नहीं आयी।

यह घटना तफ़्सीर बैज़ावी, तफ़्सीर हुसैनी, आदि में इस अन्तिम आयत के भाष्य में वर्णित है। जलालुऽद्-दीन रूमी ने अपनी मस्नवी (पैराहने यूसुफ़ी संस्करण), I, पृ. 275, में भी इस का कुछ वर्णन किया है।

अस्तु, जब पैग़म्बर ने मक्के पर विजय प्राप्त की तब आदेश दिया कि अब्दुऽल्लाह को जहाँ पाओ मार डालो चाहे वह काबे में ही क्यों न मिले (जहाँ किसी भी प्राणी की हत्या वर्जित है)। अब्दुऽल्लाह हज़्रत उस्मान का सम्बन्धी था। हज़्रत उस्मान उसे लेकर पैग़म्बर के समक्ष उपस्थित हुए और उस की प्राणरक्षा की याचना की। पैग़म्बर ने विलम्ब से कहा, "अच्छा"। हज़्रत उस्मान के चले जाने के बाद पैग़म्बर ने बताया कि वे मौन इसलिए हो गये थे कि कोई उठे और अब्दुऽल्लाह की गर्दन उड़ा दे।[94]

क़ुर्आन अपनी कई आयतों के लिए इस्लाम-पूर्व 'जाहिली' युग के कवियों का ऋणी है। 'जाहिली' युग में कवि अपनी श्रेष्ठ रचनाएं काबे में टाँग दिया करते थे, जिन्हें 'मुअल्लकात' (टंगी हुई) कहते हैं। ऐसे सात मुअल्लकात उपलब्ध हैं। उन में से दो कवि सम्राट् (पैग़म्बर के शब्दों में 'अश्अरुऽश्-शुअरा') इम्रउऽल्-क़ैस के हैं, जिन में अधोनिर्दिष्ट आयतें किंचित् पाठभेद किन्तु समान आशय के साथ प्राप्त अथवा प्रतिबिम्बित हैं – सूरतुऽल्-क़मर (54) 1. 29, 31, 46; सूरतुऽज़्-ज़ुहा (93)1-2; सूरतुऽल्-अंबिया (21)96; और सूरतुऽस्-साफ़ात (37)41।[95] कहते हैं कि एक दिन जब पैग़म्बर की बेटी सूरतुऽल्-क़मर (54) की आरम्भिक दो आयतें – 'मुहूर्त (क़ियामत) निकट आयी। और फट गया चाँद'–

पढ़ रही थी तो उक्त कविसम्राट् की पुत्री बोल उठी, 'ओ हो! यह तो तुम्हारे पिता ने मेरे पिता की एक कविता से लिया है और कहता है कि वह उस पर आस्मान से उतरी है।'[96]

कुर्आन में पैग़म्बर के साथियों के कई वाक्य तथा विचार सम्मिलित हैं जिन्हें 'मुआफ़क़ात' (समानताएं) कहते हैं। इन में हज़रत उमर के वाक्य अथवा विचार 21 हैं, सब से अधिक। पैग़म्बर और उन के साथियों के बीच परामर्श-विमर्श के दौरान आयतें बहुधा हज़रत उमर के पक्ष में उतरती थीं। यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसी आयतें पैग़म्बर की सम्मति के विरुद्ध किन्तु हज़रत उमर अथवा कभी-कभी किसी अन्य साथी की सम्मति के अनुकूल पड़ती थीं। उदाहरणतः, जब अब्दुल्लाह बिन उबैय मरा तो पैग़म्बर उस की नमाज़े जनाज़ः पढ़ाने चले, किन्तु हज़रत उमर ने उन्हें यह कह कर रोकना चाहा कि वह शत्रुता का भाव रखता था। पैग़म्बर पर झट एक आयत इसी आशय की उतरी, जो सूरतुऽत्-तौबः (9) की 84वीं आयत है। फलतः उक्त नमाज़ रुक गयी।[96a]

कुर्आन, सूरतुऽल्-बक़रः (2) 23-24, यूनुस (10) 38, हूद (11) 13-14 में काफ़िरों को चुनौती दी गयी है कि यदि क्षमता हो तो ऐसी एक सूरत बना लाओ। सूरः बनी इस्राईल (17) 88 की चुनौती है, सारे मनुष्य और जिन्न मिल जायँ तब भी ऐसा कर नहीं सकते। अधिकतर मुस्लिम विद्वानों का मत है कि कुर्आन को यहाँ फ़साहत (प्रांजलता) और बलाग़त (वाग्विभव) में बेजोड़ माना गया है। इसे कुर्आन का चमत्कार (एजाज़ुऽल्-कुर्आन) कहते हैं। किन्तु इस्लाम के इतिहास में कई मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम विद्वानों ने कुर्आनी सूरतों से अच्छी सूरतें बना लेने का दावा किया है। तदर्थ उन पर भयानक अत्याचार भी किये गये, किन्तु उन्हें झुठलाया नहीं जा सका। यह सब देख कर अनेक मुस्लिम विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि कुर्आन का चमत्कार फ़साहत-बलाग़त में नहीं उस की अप्रतिम उपदेशराशि में निहित है। इब्न हज़्म का कथन है, 'यदि कुर्आन का चमत्कार यह होता कि वह बलाग़त की उच्चतम भूमि में है तो जाहिज़ आदि के कलाम (वाणी) और इम्रउऽल्-क़ैस की कविता की कोटि में होता . . . , इसलिए कि जो चीज़ अपनी कोटि में सर्वातिशायी होती है वह इस से सुरक्षित नहीं होती कि जो उस का सजातीय है वह भी वैसा ही हो सकेगा। (वस्तुतः) वह (कुर्आनी) कलाम सृष्ट अथवा कृत (मख़्लूक) की जाति का नहीं है – न उस की उच्चतम श्रेणी का, न निम्नतम श्रेणी का, और न मध्यम श्रेणी का।'[97]

अब्दुऽल्-मसीह अल्-किन्दी तथोक्त 'एजाज़ुऽल्-कुर्आन (कुर्आन का चमत्कार) का खण्डन करते हुए हज़रत उस्मान द्वारा अस्वीकृत और भस्मसात्कृत संकलनों का दृष्टान्त देता है जो अप्रामाणिक और अतएव मनुष्यकृत होते हुए भी प्रचलित कुर्आन के समान ही चमत्कारयुक्त और अननुकरणीय समझे जाते थे। इराक़ के मुअ्तज़िली और अन्य बुद्धिवादी भी उक्त चमत्कार का खण्डन करते और तत्कालीन कई रचनाओं को कुर्आन से श्रेष्ठतर घोषित करते थे। इब्नुऽल्-मुक़फ़्फ़ा (मृत्यु 145 हि.) अब्दुऽल्-मुक़न्नअ, और अबुऽल-अला

मअर्री क़ुर्आन से होड़ लेने वाली रचनाओं के कर्ता बने। मअर्री की पुस्तक का शीर्षक है फ़ुसुल व ग़ायात। एक मध्यकालीन बुद्धिवादी मुस्लिम विद्वान् ने सूरतुऽस्-साफ़ात (37)63-65 में जो नरक के विषवृक्ष जक़्क़ूम की उपमा शैतानों के सिर से दी गयी है उस का परिहास करते हुए कहा है कि यहाँ दृष्ट की उपमा अदृष्ट से दी गयी है, क्योंकि शैतानों के सिर किसी ने देखे ही नहीं है, तो उपमा का स्वारस्य ही क्या रहा?[98]

मस्लिमः (जिन्हें मुहम्मद साहेब घृणापूर्वक मुसैलमः कज़्ज़ाब [महाझूठा] कहते थे, क्योंकि मस्लिमः उन्हीं के समान पैग़म्बरी का दावा करते थे) ने भी दावा किया कि उन पर फ़ारूक़ नामक पुस्तक उतरी है। उन्होंने क़ुर्आन के सूरतुऽल्-फ़ील (105) के मुक़ाबले एक अपनी सूरतुऽल्-फ़ील रची थी। हज़्रत अबू बक्र ने उन का और उन के अनुयायियों का संहार कर दिया। वस्तुतः इस प्रकार के प्रयत्न यदा-कदा वर्तमान में भी होते रहते हैं।

क़ुर्आन, सूरतुऽज़्-ज़ुख़्रुफ़ (43)3-4 के अनुसार धरती पर प्रकटित क़ुर्आन एक मूल पुस्तक, पुस्तक-माता (उम्मुऽल्-किताब) से निकाला हुआ है। इस सम्बन्ध में सूरतुऽल्-इम्रान (3)6 और अर्-रअ्द (13)39 भी द्रष्टव्य हैं। यह पुस्तक-माता सातवें आस्मान पर अल्लाह के पास एक गुप्त पुस्तक (किताब मक्नून) के रूप में (अल्-वाक़िअः (56) 78-79) एक सुरक्षित पट्ट (लौह मह्फ़ूज़) पर (अत्-तारिक़ (85)22) निबद्ध है। वस्तुतः क़ुर्आन ही नहीं, तौरात और इन्जील आदि भी उसी के आंशिक (नसीबं मिनऽल्-किताब) मात्र हैं (आल इम्रान (3)23, अन्-निसा (4)44, 51)। उक्त क़ुर्आन-मूल फ़िरिश्तों द्वारा पवित्र पन्नों पर लिपिबद्ध है (सूरः अबस (80)13-16)।

अब आयत-अवतरण-प्रक्रिया पर विचार करें। पहले अल्लाह की प्रेषणीय ज्ञान-राशि, फिर पुस्तक-माता का लिप्यर्पण, जिब्रील को शिक्षण-प्रशिक्षण, फ़िर पुस्तक-माता के अंश जिब्रील को प्रदान (सूरतुऽल्-बक़रः (2)97), जिब्रील द्वारा उस का मुहम्मद साहेब को अर्पण, और मुहम्मद साहेब द्वारा उन का धरती पर प्रचार। जिब्रील को क़ुर्आन में कहीं-कहीं 'रूहुऽल्-अमीन' अर्थात् सत्यनिष्ठ आत्मा (अश्-शुअरा (26)193) और 'रूहुऽल्-क़ुद्स अर्थात् पवित्रात्मा (सूरतुऽन्-नह्ल (16)102) कहा गया है।

अच्छा, अल्लाह के कलाम को प्रचलित रूप प्राप्त करने में अधोनिर्दिष्ट सोपानों से गुजरना पड़ा है—

1. अल्लाह का कलाम
2. फ़िरिश्तों द्वारा सुरक्षित पट्ट (लौह मह्फ़ूज़) पर लिप्यर्पण
3. जिब्रील द्वारा उस की थोड़ी-थोड़ी कर के उपलब्धि
4. जिब्रील द्वारा उस का उसी क्रम से मुहम्मद साहेब को उपदेश
5. मुहम्मद साहेब द्वारा स्मृतिबल से उस का अपने साथियों को उपदेश
6. उन के साथियों द्वारा उस का स्मृत्यर्पण (स्मरण कर रखना) और गिने-चुने साक्षरों द्वारा किसी सीमा तक लिप्यर्पण भी

7. मुहम्मद साहेब के साथियों द्वारा मुहम्मद साहेब के अन्य मौखिक उपदेशों-व्यवस्थाओं का भी स्मृत्यर्पण अथवा लिप्यर्पण

8. दोनों प्रकार के उपदेशों का कालान्तर में सम्भावित प्रमादजन्य व्यामिश्रण

9. अन्यों द्वारा लिप्यर्पण-प्रतिलिप्यर्पण क्रम में सम्भावित प्रमादजन्य विकृति में सम्भावित उत्तरोत्तर वृद्धि

10. हाफ़िज़ों (कुर्आनी आयतों के स्मर्ताओं) के युद्ध में मारे जाने से अनेक आयतों का प्रणाश

11. उस से अवशिष्ट पूरी या अधूरी आयतों के स्मृतिबल से पुनर्निर्माण अथवा परिपूरण की प्रक्रिया में उन में प्रक्षेप अथवा उन के प्रणाश की पूरी सम्भावना

12. हज़्रत अबू बक्र, उमर, और उस्मान द्वारा कुर्आन-संकलन-प्रक्रिया में दुर्योग से अनेक आयतों के असंकलित रह जाने की सम्भावना

13. दो गवाह न मिल सकने के कारण अनेक आयतों का जानबूझ कर अनंगीकार और फलतः उन का विलोप

14. हज़्रत उस्मान द्वारा इस प्रकार अनंगीकृतपोथी-दहन और मरवान द्वारा तीनों सम्बद्ध ख़लीफ़ाओं — हज़्रत अबू बक्र, उमर, और उस्मान–द्वारा मान्य पोथी जो हज़्रत हफ़्सः के पास रखी गयी थी उस को भी नष्ट कर दिये जाने से प्रचलित पोथियों के सत्यापन की सदा के लिए असम्भावना के फ़लस्वरूप प्रचलित पोथियों की प्रामाणिकता की और भी क्षति

15. उक्त तीन ख़लीफ़ाओं के हज़्रत अली से द्वेष के कारण कुछ आयतों के जानबूझ कर असंकलन की शीआ सम्प्रदाय द्वारा आरम्भ से अभिव्यक्त आशंका।

V

जिस प्रकार के प्रश्न भारतीय दर्शन में वेद और वैदिक शब्दों-वर्णों के विषय में उठते रहे हैं उसी प्रकार के प्रश्न कुर्आन और उसके शब्दों-वर्णों के विषय में कभी उठे थे। अस्तु, प्रश्न है, क्या कुर्आन नित्य (क़दीम) है या जन्य (हादिस)? उसी से लगा यह प्रश्न भी है, क्या 'वाक्' (कलाम) की गणना अल्लाह के गुणों में करणीय है या नहीं? हंबली और अन्य ज़ाहिरीयों (अभिधावादियों) का मत है कि वाक्/वाणी अल्लाह के सातों गुणों में एक गुण है और कि वह हमें कुर्आन के रूप में उपलब्ध है। वाक् वर्णों, शब्दों, और ध्वनियों से मिल कर बनी है जो अल्लाह की ज़ात (सत्ता, सत्त्व) में समवेत है और इसलिए नित्य है। अतः कुर्आन नित्य है। कुछ हंबलियों ने तो हद्द कर दी, वे कहने लगे कि कुर्आन की जिल्द और आवरण भी नित्य हैं।[99] इसके ठीक विपरीत मुअ्तज़िली चिन्तकों का मत है कि वाक् अल्लाह का नित्य गुण नहीं। वस्तुतः उनके अनुसार अल्लाह का सारा गुणग्राम अनित्य है। अन्यथा कई नित्य हो जायेंगे और इस प्रकार एकेश्वरवाद (तौहीद) क्षत होगा। उनका मत है कि कुर्आन की विषयवस्तु की एक आनुपूर्वी (तर्कीब व तआक़्क़ुब) है जो कालिक है, कि कुर्आन वर्णों, पदों, और ध्वनियों से मिलकर बना है

जो विवक्षा-परतन्त्र होने से अल्लाह द्वारा उत्पाद्य है, अतः कुर्आन जन्य है, नित्य नहीं। अश्‌अरी विचारकों का मत इन दोनों अन्तों के मध्य में पड़ता है। उनके अनुसार भी कुर्आन वर्णों और पदों से बना है, किन्तु वे अल्लाह के सत्त्व में समवेत नहीं हैं। वे वाक् के दो भेद करते हैं– कलाम लफ़्ज़ी और कलाम नफ़्सी। प्रथम प्रकार की वाक् पदात्मक है, किन्तु दूसरे प्रकार की वाक् अर्थात्मक कही जा सकती है जो अल्लाह के सत्त्व में समवेत है। इस आधार पर उनका कहना है कि पदों और ध्वनियों में प्रकटीकृत कुर्आन जन्य है, जबकि अर्थात्मक कुर्आन नित्य है। अर्थात्मक कुर्आन भाषा-पूर्व अथवा भाषातीत कुर्आन है। अर्थात्मक कुर्आन कलाम नफ़्सी है, जो अल्लाह के सातों नित्य गुणों में एक गुण है – इल्म (ज्ञान) और इरादा (संकल्प/इच्छा) से भिन्न, कुद्रत (सामर्थ्य), हयात (जीवन), सम्‌अ (श्रवण), और बसर (दर्शन) से भिन्न तो वह है ही। हम कलाम लफ़्ज़ी और कलाम नफ़्सी को सिफ़ते ज़ात (गुण) और सिफ़ते फ़ेल (कर्म) कह सकते हैं।

अस्तु, आस्मान से अवतरित कुर्आन अल्लाह-कृत सुरक्षित पट्टस्थ मूल कुर्आन में निहित था, और सुरक्षित पट्टस्थ मूल कुर्आन सुरक्षित पट्ट पर आने के पूर्व अल्लाह की अगाध ज्ञानराशि में समवेत था।

इब्न कुल्लाब के अनुसार अल्लाह का कलाम अल्लाह में निहित है और अल्लाह तथा अल्लाह का कलाम युगपत् नित्य है। अ़ल्लाह का कलाम वर्णात्मक नहीं, और न वह ध्वन्यात्मक है। उसमें संख्याकृत, परिमाणकृत, और स्वगत भेद नहीं। वह त्रुटि से परे है, अपरिवर्तनीय / अपरिणामी है। वह अर्थतः – आशयतः (अर्थदृष्ट्या, 'मअ्नन्') एक (वाहिद) है।[100] इब्न कुल्लाब का आशय यह प्रतीत होता है कि जब यह नित्य कलाम विविध भाषा-भाषी नबियों पर उतरता है तो उनकी भाषा का रूप ले लेता है, यदि वह हज़्रत मूसा पर उतरता है तो तौरात बन जाता है, और मुहम्मद साहेब पर उतरता है तो कुर्आन बन जाता है। अल्लाह के स्वरूपतः नित्य कलाम के अवतार अनित्य हैं, अर्थात् अवतीर्ण कुर्आन अनित्य है, किन्तु अनवतीर्ण कुर्आन नित्य है। वस्तुतः अवतीर्ण कलाम द्विगुणित अनित्य है, क्योंकि वह अनित्य सुरक्षित पट्टस्थ कुर्आन का अनित्य अवतार है।

होता यूँ है। अल्लाह के पदवाक्यातीत कलाम का संस्कार अथवा अंकन (रस्म) पदवाक्यात्मक होता है, जो क़िराअः (सस्वर पाठ) कहलाता है। अल्लाह तो नित्य कलाम कर रहा है, उसको जो जिस रूप में ग्रहण कर ले। वह न तो हिब्रू बोलता है, न अरबी, न अन्य कोई भाषा; न विधान करता है, न निषेध करता है, और न डांट-फटकार करता है, वह केवल कलाम करता है, जिसके पद और वाक्य बन जाते हैं और जिनका पाठ होने लगता है, यद्यपि पद और वाक्य कलाम नहीं, कलाम के स्थानापन्न मात्र हैं। जो पाठ हम करते अथवा सुनते हैं वह वाक्यावलि मात्र है, जिसे हम अल्लाह के कलाम के स्थान पर प्रयोग में लाते हैं, और सुफल भी पाते हैं। इब्न कुल्लाब को सन्देह नहीं कि मूसा ने अल्लाह का वास्तविक कलाम सुना था, केवल उसका संस्कार (रस्म) नहीं प्राप्त किया था।[101]

धरती पर प्रकटित कुर्आन अनादि है अथवा सादि? उत्तर स्पष्ट है, सादि, क्योंकि वह आस्मानी कुर्आन-माता का अंग है। तो क्या आस्मानी कुर्आन-मूल अनादि है? एक हदीस के अनुसार पैग़म्बर ने कहा था कि उसे अल्लाह ने संसार रचने के पूर्व रच लिया था।[102] किन्तु कुर्आन में ऐसा कोई संकेत नहीं है।

बाद में कुर्आन को ज्ञानमय मानकर और ज्ञान को अल्लाह का नित्य गुण समझ कर कुर्आन को अनादि घोषित किया गया। अब्बासी ख़लीफ़ा मामून ने इस वाद के विरुद्ध अध्यादेश जारी करके अवज्ञाकारियों को कड़ा से कड़ा दण्ड दिया। उसका तर्क था, यह सिद्धान्त ईसाइयों के त्रिकवाद (तस्लीस, ट्रिनिटी) की ओर ले जाता है, जिसके अनुसार मसीह अल्लाह की वाणी / शब्द होने के कारण नित्य हैं।

अच्छा, कुर्आन के शब्द किसके हैं? मुहम्मद साहेब के, जिब्रील के, या अल्लाह के? कुर्आन अपने को अल्लाह की वाणी (कलाम) कहता है – अत्-तौबः (9)6, अल्-फ़त्ह (48)15 – और शब्द (कलिमात) घोषित करता है – अल्-अन्आम (6)116, अल्-अअ्राफ़ (7)158, यूनुस (10)64, अल्-कह्फ़ (18)27, 109, लुक़्मान (31)27।

इसका अर्थ है कि कुर्आन के शब्द अल्लाह के ही होने चाहिएं। किन्तु कहीं-कहीं भिन्न संकेत भी प्राप्त होते हैं। सूरतुऽल्-तक्वीर (81)19-20 के अनुसार कुर्आन कृपालु जिब्रील की वाणी (क़ौल) है। प्रसंगतः यहाँ जिब्रील के लिए 'कृपालु'/'भद्र'/'महान्' (करीम) विशेषण का प्रयोग प्राप्त होता है। कम से कम यह आयतद्वय अल्लाह के अथवा जिब्रील के वचन नहीं हो सकतीं, पैग़म्बर की ही हो सकती हैं।

हम ऊपर देख आये हैं कि पैग़म्बर ने छूट दे रखी है कि जिसे जो शब्द कुर्आन के शब्द के नाम पर उपलब्ध हो वह उनका प्रयोग कुर्आन-पाठ में करने के लिए स्वतन्त्र है, बशर्ते कि अर्थ उल्टा-पुल्टा हो कर पाप का प्रयोजक न हो जाय। फलतः कुर्आन में मनुष्यों के शब्द भी यत्र-तत्र आ गये। इससे यह भी आभास होता है कि उसमें पैग़म्बर के शब्द भी होंगे। और यह सब केवल उद्धरण के रूप में नहीं, अन्यथा भी। जिब्रील से प्राप्त ज्ञान को शब्द का परिधान पहनाने में पैग़म्बर का हाथ भी होना चाहिए। मौलाना मुहम्मद अली का मत था, 'कुर्आन अल्लाह का कलाम है, यह तो सही है, किन्तु वह निश्चय ही मनुष्य के खोटे सिक्के में होगा (द कुर्आन इज गाड्'स वर्ड टुली इनफ़; बट इट मस्ट बी इन मैन'स इल क्वाइन)।[103]

किन्तु, कुर्आन की अनेक आयतों से प्रतीत होता है कि धरती के कुर्आन के शब्द भी अल्लाह के हैं। सूरतुऽश्-शुअरा (26)192-195 के अनुसार अल्लाह ने कुर्आन को अरबी भाषा (लिसान अरबी) में उतारा है। सूरतुऽन्-नह्ल् (16)103 के अनुसार कुर्आन शुद्ध अरबी भाषा (लिसान अरबी) में है, अजमी भाषा में नहीं। सूरः हामीम अस्-सज्दः (41)3,44 में वही बात अधिक बलपूर्वक कही गयी है। इस प्रकार की आयतों से स्पष्ट है कि धरती पर अवतरित कुर्आन की भाषा अल्लाह की है।

इब्न कुल्लाब के अनुसार कलाम अन्तःकरण में होता है, जिह्वा आदि द्वारा उसकी उत्पत्ति नहीं, अभिव्यक्ति होती है। यहाँ भारतीय तत्त्वज्ञान के चतुर्विध वाग्भेद — परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी– का स्मरण स्वाभाविक है। इब्न कुल्लाब का अल्लाह का नित्य धर्मभूत कलाम परा वाक् अथवा भर्तृहरि मत से पश्यन्ती वाक् का स्थानापन्न प्रतीत होता है और मनुष्य द्वारा प्रयुक्त कलाम वैखरी-स्थानी।

कुर्आन को अल्लाह-कृत, आस्मान में सुरक्षित, और/अथवा नित्य/शाश्वत घोषित करते समय कुर्आन की विषयवस्तु विचारकोटि के बाहर रखी जाती है। शाश्वत अथवा शाश्वत कोटि के ग्रन्थ का प्रतिपाद्य शत-प्रतिशत शाश्वत होना चाहिए। किन्तु कुर्आन अशाश्वतांश-बहुल ग्रन्थ है। उसकी विषय-सामग्री देश-काल से बुरी तरह जकड़ी हुई है। शाह वली उल्लाह तथा कई अन्य बड़े-बड़े मुस्लिम मनीषियों ने स्वीकार किया है कि कुर्आन को समझने के लिए तत्कालीन अरबों की सभ्यता और संस्कृति को समझना आवश्यक है। वस्तुतः स्वयं कुर्आन का कथन है कि वह अरबों के लिए है, जैसा आगे स्पष्ट होगा। वस्तुतः बात इतने पर भी समाप्त नहीं होती। कुर्आन का एक बड़ा भाग मुहम्मद साहेब के जीवन और मिशन (दअ्वः) से सम्बद्ध घटनाचक्र की अल्लाह द्वारा उपनिबद्ध अनौपचारिक दैनन्दिनी प्रतीत होता है। उसमें काफ़िरों के लिए घुड़कियाँ-धमकियाँ, इस्लाम लाने के लिए प्रोत्साहन-प्रलोभन, स्वर्ग के लुभावने चित्रण, और नरक के डरावने विवरण सामान्य और विशेष (ऐतिहासिक) दोनों रूपों में और पहले प्रवर्तित और बाद में परिवर्तित विधि-निषेध-परक उपबन्ध पाये ही जाते हैं, मुहम्मद साहेब की घरेलू समस्याओं — पत्नियों के साथ मुहम्मद साहेब के सहवास की बारी में मनमानी की अनुमति आदि — और उनके समाधान की भी पर्याप्त चर्चा कुर्आन में आती है। मुहम्मद साहेब जब भी किसी समस्या में उलझते थे, अल्लाह की ओर से झट एक आयत अवतीर्ण हो जाती थी। उनकी सबसे चहेती पत्नी हज़्रत आयशा ने तो उन पर कटाक्ष करते हुए कहा था कि अल्लाह आपकी प्रतिष्ठा रखने में बहुत शीघ्रता करता है। एक बार यह आयत –सूरतुऽल्-मुजादलः (58)12 – उतरी कि जो लोग पैग़म्बर से बात करने आयें वे उन्हें कुछ सदकः (दान-दक्षिणा) /भेंट दिया करें। इस आयत पर केवल हज़्रत अली ने आचरण किया। यह देख कर अल्लाह ने दस दिन बाद उसे अगली आयत से निरस्त कर दिया। यह सब नित्य कुर्आन का अंग नहीं हो सकता।

कुर्आन में तौरात, ज़बूर, और इंजील को भी अपने ही बराबर प्रामाणिक और अल्लाह-कृत माना गया है। बल्कि वह यहाँ तक कह जाता है कि कुर्आन में वहीं बातें कही गयी हैं जो उन पुस्तकों में कही गयी हैं और कि वह उनका सत्यापन करने के लिए प्रवृत्त हुआ है (सूरतुऽल्-बक़रः (2) 38, 41, 44, 89, 91, 97, 101; आल-इम्रान (3) 3, 81; अन्-निसा (4) 47; अल्-माइदः (5) 46-48; अल्-अन्आम (6) 93; यूनुस (10) 27, 31, 94; यूसुफ़ (12) 111; अन्-फ़ुर्क़ान (25) 196-197; हामीम अस्-सज्दः (41) 43)। कुर्आन का यह भी स्पष्ट विधान है कि सभी अल्लाहकृत ग्रन्थ और पैग़म्बर समान रूप

से श्रद्धेय हैं (अल्-बक़रः (2) 136), चाहे अल्लाह ने उन में से किसी को किसी पर वरीयता भले ही दी हो (सूरतुऽल्-बक़रः (2) 253)। वे लोग पक्के काफ़िर हैं जो पैग़म्बरों में भेद करते हैं और किसी को मानते हैं किसी को नहीं (सूरतुऽन्-निसा (4) 150-151)। कुर्आन की अनेक आयतों – सूरतुऽल्-अन्आम (6) 156, सूरः यूसुफ़ (12)2, सूरतुऽर्-रअ्द (13)37, सूरः ता हा (20) 113, सूरतुऽश्-शुअरा (26) 198-199, सूरः हा मीम अस्-सज्दः (41) 44, सूरतुऽज़-ज़ुख़्रुफ़ (43) 3) से स्पष्ट है कि कुर्आन अल्लाह-कृत प्राचीनतर पुस्तकों का स्थान न लेकर मात्र उनका अनुपूरण और सत्यापन करता है, क्योंकि वह मुख्यतः अरबों के लिए उन्हीं की भाषा में प्रवृत्त हुआ है, जिन के पास अल्लाह की कोई पुस्तक नहीं थी। यह भी उल्लेखनीय है कि कुर्आन (सूरतुऽन्-नह्ल (16) 43) में अल्लाह पैग़म्बर को यह भी आदेश देता है कि यदि उन्हें किसी विषय में शंका हो तो पुरानी आस्मानी पुस्तक वालों (अह्लुऽज़्-ज़िक्र) से पूछ लें।

परवर्ती मुस्लिम विद्वान् कुर्आन-पूर्व अथवा कुर्आनेतर (एक ही बात है) सभी आस्मानी पुस्तकों को कुर्आन से निरस्त घोषित करते हैं, किन्तु कुर्आन में इस मत का कोई आधार प्राप्त नहीं होता। कुर्आन की एक उपर्युदाहृत आयत (सूरतुऽल्-बक़रः (2) 106) इस आशय की है कि जब अल्लाह कोई आयत विस्मृत (निस्यान) करा देता अथवा निरस्त कर देता है तो वैसी ही अथवा उस से श्रेष्ठतर आयत दे देता है। जैसा ऊपर वर्णित है, इमाम फ़ख़्रुऽद्-दीन राज़ी, सर सय्यिद अह्मद, और अबुऽल्-कलाम आज़ाद जैसे भाष्यकार यहाँ 'आयत' शब्द से (कुर्आन-पूर्व) शरीअतें अर्थात् अल्लाह की अन्य पुस्तकें अभिप्रेत मानते हैं, जो कष्टकल्पित प्रतीत होता है। कुर्आन में किसी भी मुहम्मद-काल में प्रचलित पुस्तक में कोई दोष कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है। यहूदी मुहम्मद साहेब को भ्रम में डालने के लिए तौरात का पाठ ग़लत ढंग से अवश्य करते थे (उदाहरगतः, द्रष्टव्य कुर्आन, सूरतुऽल्-माइदः (5) 13, 41), किन्तु ऐसा कहीं संकेत नहीं कि वे सर्वत्र प्रचलित तौरात को विकृत कर दे रहे हैं। वस्तुतः इमाम फ़ख़्रुऽद्-दीन राज़ी और सर सय्यिद तौरात, इन्जील, आदि को जानबूझ कर विकृत किये हुए ग्रन्थ नहीं मानते, यद्यपि राज़ी और आज़ाद उन्हें कुर्आन द्वारा मन्सूख़ शरीअतें मानने के पक्ष में हैं।

वस्तुतः कुर्आन (सूरतुऽल्-बक़रः (2) 136, आल-इम्रान (3) 84, अन्-निसा (4) 163) में सभी मुहम्मद-पूर्व पैग़म्बरों – हज़्रत इब्राहीम, इस्माईल, इस्हाक़, यअ्क़ूब और उन की सन्तान, मूसा, ईसा, और अन्य – में और उन पर उतरे अभिलेखों (सहीफ़ों) और ग्रन्थों में समान रूप से, बिना किसी भेदभाव के, ईमान लाना परम कर्त्तव्य कहा गया है

इस प्रकार कुर्आन ही नहीं बाइबिल का एक बड़ा भाग भी, जिस में तौरात, ज़बूर, और इन्जील सम्मिलित हैं और कई सहीफ़े भी सम्भव हैं, कुर्आन के समान ही मान्य परम प्रमाण सिद्ध होता है। किन्तु इन्जील (मत्ती, मार्क, लूका, और जान की पुस्तकें) अल्लाह की नहीं ईसा के चार शिष्यों / साथियों की रचनाएं हैं, और तौरात का अन्त हज़्रत मूसा

की मृत्यु और विस्मृत क़ब्र की चर्चा से होता है।[104] अतः तौरात पूरी की पूरी आस्मानी पुस्तक नहीं मानी जा सकती जो हज़्रत मूसा पर उतरी हो।

अस्तु। यहाँ यह भी अवधेय है कि कतिपय मुस्लिम विद्वान् भारत में भी पैग़म्बरों का आना और आस्मानी पुस्तकों का उतरना मानने के पक्ष में हैं। मुजद्दिद अल्फ़े सानी का मत है कि भारत में भी पैग़म्बर आये, किन्तु यहाँ की जनता ने उन का वध कर डाला।[105] मिर्ज़ा मज़्हर जानेजानाँ और शाह अब्दुऽल्-अज़ीज़ जैसे विद्वान् श्रीकृष्ण को पैग़म्बर और गीता तथा कभी-कभी वेद को आस्मानी पुस्तक मानने के पक्ष में रहे हैं।अतः प्रमाणता में ये सब भी मुहम्मद साहेब और कुर्आन के किसी सीमा तक सहभागी के रूप में मान्य होने चाहिएं।

भारत में भी पैग़म्बर आस्मानी पुस्तक लिये आये हैं, यह दावा कुर्आन की उन पूर्वोक्त आयतों के आधार पर किया गया है कि अल्लाह ने हर जाति और देश में पैग़म्बर और पुस्तकें भेजी हैं। किन्तु कुर्आन (अल्-माइदः (5) 20, अल्जासियः (45) 16) में ही यह भी संकेत है कि पैग़म्बर और आस्मानी पुस्तकें केवल बनी इस्राईल के भाग्य में बदी हैं और कि अल्लाह ने पुस्तकें केवल दो, यहूदी और ईसाई समुदायों ('अला ताइफ़तैन', कु. सूरतुऽल्-अन्आम (6) 156) पर उतारी हैं।

और सुनिए। कुर्आन में यह तो कहा गया है कि वह समस्त संसार के लिए नसीहत है (सूरः यूसुफ़ (12) 104), किन्तु स्थान-स्थान पर स्पष्ट कर दिंया गया है कि वह अरबों अथवा मक्के और उसके आसपास (उम्मुऽल्-कुरा व मन् हौलहा) के लिए उतरी है (सूरतुऽल्-अन्आम (6) 93; अश्-शूरा (42) 7)। इस प्रकार कुर्आन की प्रमाणता सार्वभौम नहीं रह जाती। वस्तुतः कुर्आन में बार-बार स्पष्ट किया गया है कि वह अरबी में उतारा ही इसलिए गया है कि अरब वालों को यह शिकायत न हो कि वह उतारा तो गया है अरबों के लिए किन्तु उस की भाषा अजमी (अरबी से भिन्न भाषा) है (सूरः हामीमअस्-सज्दः (41) 44)।

जब हम अल्लाह-वचन (कुर्आन) और मुहम्मद-वचन (हदीस कुद्सी) में प्राप्त तथ्यों-तत्त्वों के परम प्रामाणिक मुस्लिम धर्माचार्यों द्वारा उपबृंहण के प्रकाश में और स्वतन्त्र रूप से भी विश्लेषण और विवेचन करते हैं तो पाते हैं–

1. कि कुर्आन सर्वांशतः स्वतः प्रमाण नहीं, उस में मन्सूख़ुऽल्-हुक्म (अनाचरणीय) आयतों के रूप में पर्याप्त अप्रमाणांश भी विद्यमान है।इससे भी बड़ी बात यह है कि कुर्आन हदीस कुद्सी से यदा-कदा संशोधित भी हुआ है। उस सीमा तक कुर्आन हदीस-सापेक्ष होकर परतःप्रमाण हो जाता है।

2. कि मुहम्मद-वचन सर्वांशतः परतःप्रमाण नहीं, वह कुर्आन के किसी-किसी आदेश को कभी-कभी निरस्त करते हुए स्वतः प्रमाणता की ओर अग्रसर प्रतीत होता है।

3. कि कुर्आन तौरात आदि कई अन्य पुस्तकों को आस्मानी, श्रद्धेय, और समकक्ष घोषित करता है, किन्तु पैग़म्बर-वचन और सुन्नत आड़े आयी; जिस से तद्विषयक कुर्आनी आयतें धरी की धरी रह गयीं।

4. कि उपर्युक्त निष्कर्षों को देखते हुए, यह समझना भूल है कि इस्लाम के लिए कुर्आन पूर्णतः एकान्ततः स्वतःप्रमाण-चरमप्रमाण पुस्तक है।

5. कि, यदि कुर्आन-संकलन-विषयक सर्वसुन्नीसम्मत परम्परा सर्वथा साधार है, तो प्रचलित कुर्आन अपूर्ण, अव्यवस्थित, और किसी सीमा तक अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

6. कि कुर्आन के अरबी में होने का एकमात्र कुर्आनोक्त हेतु यह है कि उस का प्रवर्तन (मुख्यतः) अरबों के लिए हुआ है।अतः उसकी प्रमाणता सार्वभौम नहीं रह जाती।

हमने लेखारम्भ में जो प्रश्न उठाये हैं उन पर प्रकाश अथवा उन के समाधान के लिए पूरा लेख पढ़ना होगा। हम ने यहाँ, अन्त में, अपने कुछ विशिष्ट निष्कर्ष दे दिये हैं, जो सरलतापूर्वक, संक्षेप में दिये जा सकते हैं।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. मुसल्मान अब 'अल्लाह' शब्द का अनुवाद प्रायः पसन्द नहीं करते।
2. द्रष्टव्य संदर्भ 31 (नीचे)
3. जलालुऽद्दीन सुयूती, **अल्-इत्क़ान फ़ी उलूमिऽल्-क़ुर्आन,** हलबी, क़ाहिरा, 1354/1935, खण्ड 1, प्रकरण 17 .
4. ख़त्ताबी की सम्मति, द्रष्टव्य इब्न हजर अस्क़लानी, **फ़त्हुऽल्-बारी,** क़ाहिरा 1348/1939, खण्ड 9, पृ. 9 (संकेत कुर्आन, सूरतुऽल्-हिज्र (15) की ओर है।)
5. सुयूती, तत्रैव
6. अस्क़लानी, **फुत्हुऽल्-बारी,** खण्ड 9, पृ. 32
7. बुख़ारी, II, किताबुऽत्तफ़्सीर, अध्याय 975, इदीस 2095-2096
8. तत्रैव
9. तत्रैव
10. सुयूती, पूर्वोदाहृत पुस्तक और प्रकरण
11. तत्रैव
12. शाह वलीउऽल्लाह, **इज़ालतुऽल्ख़फ़ा,** पृ. 43. यह तथ्य कम ही लोगों को ज्ञात है, अतः मूल फ़ारसी शब्द उद्धृत किये जाते हैं – 'बअ्द अज़ आं कि कुर्आन शरीफ़ दर मुस्हफ़ मज्मूअ शुद, फ़ारूक़े आज़म सालहा दर फ़िक्रे तस्हीहे ऊ सर्फ़ नुमूद व मुनाज़रः-हा बा सहाबः मी कर्द। गाहे हक़्क़ बर वफ़्क़े मक्तूब ज़ाहिर मी शुद, पस आं रा बाक़ी मी गुज़ाश्त व मर्दुमाँ रा अज़ ख़िलाफ़े आं बाज़ मी दाश्त व गाहे हक़्क़ बर ख़िलाफ़े मक्तूब

ज़ाहिर मी शुद। दरीं सूरत मक्तूब रा हक़्क़ मी फ़र्मूद, बजा-ए वे आंचे मुहक़्क़क़ मी शुद मीनविश्त।'

13. शिब्ली नुअ्मानी, **अल्-फ़ारूक़** (दिल्ली : परवेज़ बुक डिपो, तिथि अनिर्दिष्ट), पृ. 104-105
14. बुख़ारी, II, किताबुऽल्-अंबिया, अध्याय 357, हदीस 720; किताबुऽत्तफ़्सीर, अध्याय 975, हदीस 2096
15. बुख़ारी, II, किताबुऽत्तफ़्सीर, अध्याय 975, हदीस 2096
16. क़ुतुबुऽद्दीन, **मज़ाहिरे हक़्क़** और **फ़त्हुऽल्-बारी,** उक्त हदीसों की व्याख्या में
17. सय्यिद मुहम्मद अली, **किताबुऽत्तारीफ़ि बिऽन्-नबी-इ वऽल्-क़ुर्आनिऽश्-शरीफ़,** क़ाहिरा, 1345 हि., पृ. 87, सय्यिद अली नक़ीउऽन्-नक़वी, **तह्रीफ़े क़ुर्आन की हक़ीक़त** (तृ.सं.,लखनऊ, तिथि अनिर्दिष्ट), पृ. 133-134, में उदाहृत ; अबू जअ्फ़र मुहम्मद बिन जरीरुऽत् तबरी, **तफ़्सीर जामिअुऽल्-बयान,** अन् तावीलि आयतुऽल्-क़ुर्आन, क़ाहिरा, 1954,I, नक़वी द्वारा पृ. 134 पर उदाहृत
18. बुख़ारी, II, **किताबुऽत्-तफ़्सीर,** अ. 980, ह2107
19. तत्रैव, ह2111
20. तत्रैव, ह. 2112
21. शैख़ मुस्तफ़ा सादिक़ रिफ़ाअी, **इअ्जाज़ुऽल्-क़ुर्आन,** नक़वी, पृ. 64 में उदाहृत
22. इब्नुऽन्-नदीम, **किताबुऽल्-फ़िह्रिस्त,** क़ाहिरा, 1348/1929, पृ. 41
23. सुयूती, **तारीख़ुऽल्-ख़ुलफ़ा,** उर्दू अनु., दिल्ली, पृ. 234
24. तत्रैव, I, पृ. 58
25. फ़त्हुऽल्-बारी, IX, पृ. 9
26. बुख़ारी, II, किताबुऽल्-मनाक़िब, अ411, हदीस 949
27. **सुनन् इब्न माजः,** अध्याय फ़ज़ाइल अस्हाब रसूलुऽल्लाह
28. **जामिअ तिर्मिज़ी,** तफ़्सीरुऽल्-क़ुर्आन, सूरतुऽत्तौबः के अन्त की तफ़्सीर; शाह अब्दुऽल्-अज़ीज़, **तुह्फ़ः-ए इस्ना अशरीयः** (नवलकिशोर प्रेस), पृ. 509
29. बुख़ारी, II, **किताबुऽत्-तफ़्सीर,** अ. 980, ह2110; मुस्लिम,II, अ350, ह. 773
30. **नामः-ए दानिश्वराने नासिरी** (ईरान), I, पृ. 286-287
31. कैटेलॉग ऑव़ दि अरेबिक ऐन्ड पर्शियन मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि ऑरिएन्टल पब्लिक लाइब्रेरी ऐट बाँकीपुर, पटना, इन्डिया, वाल्यूम XVIII, क़ुर्आनिक सायन्स, पार्ट I, बाई मौलवी मुईनुऽद्दीन नदवी, बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, 1930, पृ. 43, सय्यिद सिब्तुऽल्-हसन हँसवी, मिन्हाजे नह्जुऽल्-बलाग़ः (लखनऊ : निज़ामी प्रेस, तिथि अनंकित), पृ. 105-106, में उदाहृत
32. **दबिस्ताने मज़ाहिब** (कानपुर : नवलकिशोर प्रेस, तिथि अनंकित), पृ. 272-273
33. अल्फ़ान्से मिंगना और एग्निस स्मिथ (सम्पा.), **लीव्ज़ फ्राम थ्री ऐन्शेन्ट क़ुर्आन्स पॉसिब्ली प्री-उस्मानिक विद अ लिस्ट ऑव़ देअर वैरिएन्ट्स** (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1914)

34. ए मिंगना, **ऐन ऐन्शेन्ट सीरिअक ट्रान्सलेशन ऑव्र द क़ुर्आन एग्ज़हिबिटिंग न्यू वर्सेज ऐन्ड वैरिएन्ट्स** (मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस,1925)
35. तत्रैव, पृ. 12-13
36. इब्न अबी दाऊद, **किताबुऽल्-मसाहिफ़,** आर्थर जेफ़री, सम्पा., **मैटीरियल्स फ़ॉर द हिस्टरी ऑव्र द टेक्स्ट ऑव्र द क़ुर्आन** (लाइडेन : ई.ज़े. ब्रिल, 1937) शीर्षक से, प्रिफ़ेस, पृ. VIII.
37. इब्नुऽन्-नदीम, **अल्-फ़िह्रिस्त,** क़ाहिरा, 1348/1929, फ़िह्रिस्त 36
38. जेफ़री, **मैटीरियल्स,** इन्ट्रोडक्शन, पृ. 10
39. बुख़ारी, II,किताबुऽत्-तफ़्सीर, अ. 977, ह. 2099
40. तत्रैव, ह. 2100
41. तत्रैव, अ. 978, ह. 2101
42. अबू जअ्फ़र मुहम्मद बिन जरीर अत्-तबरी, **तफ़्सीर जामिअुऽल्-बयान,** (क़ाहिरा,1954),I, पृ. 25,32 (अब तक 17 खण्ड छपे हैं)
43. तत्रैव,पृ. 23,24
44. अबू यूसुफ़ यअ्क़ूब बिन इब्राहीम अल्-कूफ़ी, **किताबुऽल्-आसार,** हैदराबाद,1355 हि.,पृ. 44, सुयूती, **इत्क़ान,** I, पृ. 47
45. बुख़ारी,II, किताबुऽत्-तफ़्सीर, अ. 974, ह. 2097
46. **इत्क़ान,** I, पृ. 61
47. तत्रैव, पृ. 46-47, तबरी, **तफ़्सीर** I, पृ. 29
48. **फ़त्हुऽल्-बारी,** IX, पृ.18
49. अमीदुऽद्-दीन फुलवारवी, कुर्आन की चौदह क़िर्अतें, **ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी जर्नल,** 49(1989), पृ.105-121
50. इत्क़ान, I, प्रथम प्रकरण, पृ. 63-64
51. इत्क़ान,I, प्रथम प्रकरण
52. तत्रैव
53. बुख़ारी, I, किताबुऽल्-बुयूअ, अ. 1380, ह. 2074; II, क़िताबुऽल्-मग़ाज़ी 519, ह. 1433
54. उदाहरणतः, बुख़ारी, II, किताबुऽत्-तफ़्सीर, तफ़्सीर सूरतुऽन्-नह्ल (16)
55. मुस्लिम, उर्दू अनु.दिल्ली,I, किताबुऽज़्-ज़कात, अ. 304, ह. 1058
56. तत्रैव, किताबुऽर्-रिज़ाअ, अ.466, ह. 1473
57. **इत्क़ान,** II, प्रकरण 47
58. तत्रैव, I, प्रकरण 19
59. बुख़ारी, III, किताबुऽल्-महारिबीन, अ. 979, ह. 1730; मुस्लिम, II, किताबुऽल्-हुदूद, अ. 74, ह.158 और आगे

60. अबू दाऊद, **सुनन,** किताबुऽल्-हुदूद, बाब फ़िऽर्-रज्म; इमाम मालिक, **मुअत्ता**
61. द्रष्टव्य, टिप्पणी 59 (ऊपर)
62. इब्न माजिः, **सुनन**, अब्वाबुऽन्-निकाह
63. **इत्क़ान,** II, 61-62
64. बुख़ारी, II, किताबुऽत्-तफ़्सीर, अ.65, ह. 1598
65. इत्क़ान, II, पृ. 64
66. अब्दुऽल्-करीम टोंकी, **सबीलुऽर्-रसूख़ फ़ी इल्मिऽन्-नासिरिव्र वऽल्-मन्सूख़** (अरबी पद्यों में), 1174
67. बुख़ारी, II, किताबुऽत्-तफ़्सीर, अ. 976, ह. 2079
68. तत्रैव, किताबुऽल्-मग़ाज़ी, अ. 484, ह.1220
69. तत्रैव, I, किताबुऽश्-शहादः, अ.1654, ह.2467; मुस्लिम, I, किताबुऽल्-फ़ज़ाइलिऽल्-कुर्आन, अ. 256, ह. 784
70. बुख़ारी, III, किताबुऽत्-तौहीद, अ. 1266, ह. 2343
71. तत्रैव, ह. 2344
72. तत्रैव, ह. 2345
73. तत्रैव, ह. 2348
74. **मसाहिफ़,** पृ. 22

74क. इत्क़ान, II, पृ. 25

75. अबू अब्दुऽल्लाह मुहम्मद बिन इद्रीस अल्-मुत्तलिबी अश्-शाफ़िई, **किताबुऽल्-उम्म,** बुलाक़ 1321-24, VIII, पृ. 271
76. अबू हामिद मुहम्मद बिन अल्-ग़ज़्ज़ाली, **किताबुऽल्-मुस्तस्फ़ा,** बुलाक़, 1322, I, पृ. 125
77. बुख़ारी,II, अब्वाबुऽल्-मग़ाज़ी, अ. 5, ह. 1334, 1353,1369-1379; मुहम्मदुऽल्-ख़ज़्री, **तारीख़ तश्रीअिऽल्-इस्लामी, उर्दू अनु. शीर्षक तारीखे फ़िक्हे इस्लामी,** चौथा सं. आज़मगढ़, 1973, पृ. 42
78. मुहम्मद तक़ी अमीनी, **अहकामे शरईयः में हालात और ज़मानः की रिआयत,** दिल्ली, 1970 पृ. 188-189, 197
79. बुख़ारी, III, किताबुऽल्-महारिबीन, अ. 969-980, ह.1716-1732
80. इमाम फ़ख़्रुऽद्-दीन राज़ी, **मफ़ातीहुऽल्-ग़ैब,** जिसे तफ़्सीर कबीर भी कहा जाता है, 1289 हि.,VI , पृ. 250
81. **फ़त्हुऽल्-बारी,** XII, पृ. 103
82. कन्ज़ुऽल्-उम्माल, III, किताबुऽल्-हुदूद मिन् क़िस्मिऽल्-अफ़्आल
83. तत्रैव
84. तत्रैव

85. तत्रैव, पृ. 79
86. तत्रैव, पृ. 77. तुलनीय क़ुर्आन, अल्-माइद (5) 34,39, अन्-नूर (24) 5
87. तत्रैव, पृ. 76
88. तत्रैव, पृ. 143
89. नववी, **शर्ह मुस्लिम,** II, पृ. 72
90. तत्रैव
91. अमीनी, पृ. 76
92. तत्रैव, पृ84
93. **तबकात इब्न सअ्द,** I, हैदराबाद, 1944, पृ. 308-311
94. इब्न हिशाम, II, पृ. 485
95. विलियम सेन्ट क्लेयर टिस्डल, **यनाबीअुऽल्-इस्लाम** (फ़ारसी), उर्दू अनु. लाहौर, 1926, पृ21-22
96 वही पुस्तक, अंग्रेज़ी अनु., शीर्षक **'The Sources of Islam',** 1973, पृ. 9
96a. तारीख़ुऽल्-ख़ुलफ़ा, पृ. 152-156
97. इब्न हज़्म, **किताबुऽल्-मिललि वऽन्-निहल,** II, हैदराबाद, 1945, पृ. 169-170
98. इग्नाज़ गोल्डज़िहर, **मुस्लिम स्टडीज़,** जर्मन से अंग्रेज़ी अनु., II, लन्दन, 1971, पृ. 363-365
99. बैहक़ी, **किताबुऽल्-अस्मा वऽस्-सिफ़ात,** पृ. 198
100. इमाम अबुऽल्-हसन बिन इस्माईल अश्अरी, **किताबु मक़ालातिऽल्-इस्लामिय्यीन व इख़्तिलाफ़िऽल्-मुसल्लिय्यीन,** इस्तंबूल, 1929-30, पृ. 584
101. तत्रैव, पृ. 584-585, 601-602
102. अब्दुऽल्-क़ाहिर इब्न ज़हीर अल्-बग़दादी, **किताबुऽल्-फ़र्क़ बैनऽल्-फ़िरक़,** क़ाहिरा, 1910, द्रष्टव्य हैरी ऑस्टिन उल्फ़सन, **फ़िलॉसोफ़ी ऑव़ द कलाम,** कैम्ब्रिज, मैसैचुसेट्स/ लन्दन, 1976, पृ. 239; वेनसिंक, **द मुस्लिम क्रीड** , पृ. 162
103. मुहम्मद अली, **माई लाइफ : अ फ़्रैगमेन्ट,** दिल्ली, 1979, पृ. 207
104. डायटरॉनोमी 34.5-6
105. मुजद्दिदे अल्फ़े सानी, **मक्तूबात (इमामे रब्बानी)** , I, IV, मक्तूब 259

42/59, रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही, लखनऊ – 226 001

भारतीय विद्याओं की यौक्तिक इतिहास-रचना की संभावना*

वीरेन्द्र शेखावत

1. विज्ञान की यौक्तिक इतिहास-रचना के बारे में समकालीन विज्ञान-दार्शनिकों ने एक नवीन अवधारणा का सर्जन किया है। कुहन, लॅकॉटॉस आदि के नेतृत्व में इतिहास-लेखन की एक नई संकल्पना उभरी है जिसके अनुसार विज्ञान-दर्शन इतिहास के लिखने में पथप्रदर्शक हो सकता है। वस्तुतः विज्ञान-दर्शन और विज्ञान-इतिहास परस्पर आश्रित हैं। विज्ञान-इतिहास के बिना युक्त विज्ञान-दर्शन की रचना नहीं हो सकती है और विज्ञान-दर्शन के प्रकाश में ही युक्त विज्ञान-इतिहास का लेखन हो सकता है। इतिहास-लेखन की यह संकल्पना कालगणना पर ही केन्द्रित नहीं है वरन् इसमें यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान की खोज-प्रक्रिया में कौनसी पथप्रदर्शक दृष्टियाँ उभरीं, प्रथप्रदर्शक दृष्टियों में स्थानान्तरण हुआ या नहीं, कौन से प्रारूप अपनाये या त्यागे गये, अनुसंधान-कार्यक्रमों की उन्नति-अवनति की क्या गति रही, कहाँ और कब नवीन प्रत्ययकरण हुआ, आदि। यह संकल्पना आन्तर इतिहास और बाह्य-इतिहास में भी भेद करती है# जिसके आधार पर अनुशासन विशेष की गति-गणना इस जांच-पड़ताल द्वारा की जा सकती है कि उसके आन्तर इतिहास ने बाह्य इतिहास को कैसे प्रभावित किया और बाह्य इतिहास ने आन्तर को कैसे प्रभावित किया। इतिहास-लेखन की यह समकालीन संकल्पना भारतीय विद्याओं की यौक्तिक इतिहास-रचना में उपयोगी हो सकती है।

लेखक ने एक दशक से अधिक समय से भारतीय विद्याओं का अध्ययन व शोधन किया है और वह इस दौरान प्राप्त अनुभवों और विचारों से पाठकों को अवगत कराना चाहता है। लेखक ने सर्वप्रथम आयुर्वेद में शोध आरम्भ किया और उसके परिणामों से प्रोत्साहित होकर अन्य भारतीय विद्याओं की भी गवेषणा की। इससे यह स्पष्ट हुआ है कि भारतीय विद्याओं की सर्वांगीण यौक्तिक इतिहास-रचना की ज़रूरत है। भारतीय विद्याओं के इतिहास का भी एक संक्षिप्त इतिहास है जिससे पाठकों को अवगत होना चाहिए।

2. भारतीय विद्याओं के इतिहास से संबंधित सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण पुस्तक स्वामी दयानन्द की **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका** को माना जा सकता है जो बीसवीं विक्रमी शताब्दी

x भारतीय दर्शन-विज्ञान-संस्कृति के इतिहास पर अध्ययनरत ग्रुप, जयपुर को दिए गए व्याख्यान पर आधारित।

देखिए वी. शेखावत, जे. आई. सी. पी. आर., अंक 9 (2). 1992, पृ. 121-31. इस लेख में आंतर-बाह्य इतिहास-भेद को सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास-लेखन के लिए भी उपयोगी माना गया है।

के आरंभ में लिखी गई। इसके बाद बृजेन्द्रनाथ सील की **पॉज़िटिव सायंसेज़ ऑफ एंश्यंट हिन्दूज़** लिखी गई। फिर रॉय की **हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री,** सरकार की **हिन्दू अचीवमेंट्स इन इग्ज़ेक्ट सायंसेज़** लिखी गई। उमेश मित्र की **वैशेषिक कॉन्सेप्शन ऑफ मैटर,** विद्याभूषण की **हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लॉजिक,** मुखोपाध्याय की **हिस्ट्री ऑफ इन्डियन मेडीसिन,** मजूमदार की **हिस्ट्री ऑफ बोटनी एण्ड अलाइड सायंसेज़** (यूनेस्को को रपट के रूप में प्रस्तुत) तथा दासगुप्ता की **नेचुरल सायंसेज़ ऑफ एन्श्येन्ट हिन्दूज़,** दत्त और अवधेशनारायण सिंह की **हिस्ट्री ऑफ हिन्दू मैथमेटिक्स** आदि लिखी गईं। जग्गी की **हिस्ट्री ऑफ सायंस एण्ड टेक्नॉलॉजी इन इन्डिया,** तथा बोस, सेन व सुब्बारयप्पा की **ए कन्साइज़ हिस्ट्री ऑफ सायंस इन इन्डिया** लिखी गई। युधिष्ठिर मीमांसक की **व्याकरण का इतिहास,** काणे की **धर्मशास्त्र का परिचय,** अत्रिदेव विद्यालंकार की **आयुर्वेद का बृहत् इतिहास,** तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित की **भारतीय ज्योतिष,** बैनर्जी की **ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर,** आदि महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रंथ रचे गए। इन ग्रंथों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : पहला वर्ग उन ग्रंथों का है जिनका मूल आशय भारतीय विद्याओं का औचित्य-प्रदर्शन है – "देखिए हमारे यहां भी विज्ञान जैसा ही कुछ है"– तथा दूसरे वर्ग में वे ग्रन्थ रखे जा सकते हैं जो देशी शैली में लिखे गए हैं और जिनमें स्वतंत्र रूप से विद्या विशेष के उद्‌भव और विकास के इतिहास की छानबीन करने का प्रयास किया गया है। भारतीय विद्याओं की यौक्तिक इतिहास-रचना हेतु इन विभिन्न ग्रंथों का अध्ययन सभी के लिए अपरिहार्य है।

3. यद्यपि ऊपर बताए गए इतिहास-ग्रंथों का लेखन इतिहास-लेखन की नई संकल्पना के अनुसार नहीं है – क्योंकि इसका विकास बाद में हुआ - तो भी ये ग्रंथ हमें भारतीय विद्याओं के बारे में उपयोगी जानकारी उपलब्ध कराते हैं। इन विद्याओं पर विशाल वाङ्मय का निर्माण हुआ है तथा उस वाङ्मय से परिचित होने पर ही हम इतिहास-रचना-कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं। इस समस्त लेखन की पृष्ठभूमि पर हम भारतीय विद्याओं के लिखित वाङ्मयको निम्नलिखित चरणों में विभाजित कर सकते हैं :

1- पूर्वसंहिता-चरण, 2- संहिता-चरण, 3- शास्त्र-चरण, 4- तंत्र-चरण

5- विज्ञान-चरण का आधुनिक काल

यद्यपि भारतीय विद्याओं के इतिहास में ये चरण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, गहन अध्ययन के द्वारा यह जानना ज़रूरी है कि किन कारणों से एक चरण से दूसरे चरण में स्थानान्तरण हुआ और ऐसे साक्ष्यों को खोजना ज़रूरी है जिन्होंने इतिहास को इस गति के लिए वेग प्रदान किया। तभी हम अपने इतिहास-रचना के यौक्तिक होने का दावा कर सकते हैं।

पूर्वसंहिता-चरण ऋग्वेदादि संहिताओं से पूर्वकाल का चरण है और इस चरण के क्षीण लिखित साक्ष्य उपलब्ध हैं। प्रधानतः पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर हम इस चरण का रूपांकन कर सकते हैं और इसमें अटकलबाजी की बहुत अधिक संभावना है। इसी कारण

से इस चरण के अध्ययन में अनेक विवाद भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इसके बारे में विशेष सावधानी बरतनी ज़रूरी है।

संहिता-चरण ऋग्वेदादि संहिताओं से आरंभ होकर वेदांग, उपवेद, आचार-याग-संस्कार संहिताओं, आयुर्वेद-संहिताओं व ज्योतिष-संहिताओं को समाहित करता है। इसी चरण में विरोधी मतों के साथ वादप्रक्रिया आरंभ हुई और अन्ततः सांख्यादि सिद्धान्तों तथा व्याकरण का उद्भव हुआ। पाणिनीय व्याकरण इस चरण के अन्त में रचा गया प्रतीत होता है और ज्ञान की सुदृढ़ व्यवस्थित पद्धति के कारण एक प्रारूप के रूप में स्वीकृत हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार संभवतः शास्त्रकरण की एक नयी प्रकिया का सूत्रपात हुआ जो छठे विक्रमपूर्व संवत् के मध्य तक परिपक्व हुई।

शास्त्र-चरण में भारतीय विद्याएं अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंचीं। इस चरण में ही जैन आगम व बौद्ध पिटक रचे गये तथा आर्षधारा के अन्तर्गत विभिन्न शास्त्रों के रूप में ज्ञान का पुनर्वर्गीकरण किया गया। जहाँ संहिता-काल में ज्ञान-संग्रह और उसके सम्यक् प्रस्तुतीकरण पर बल था वहाँ शास्त्र-काल में युक्ति की प्रधानता देखी जा सकती है। शास्त्र एक सुव्यवस्थित ज्ञान-समष्टि होता है जो प्रमाण में आधारित व युक्ति द्वारा सिद्ध होता है। यह वाद, संरक्षण और पुनर्रचना की सतत प्रक्रिया है और एक शास्त्र के अन्तर्गत अनेक वाद हो सकते हैं। इस काल में रचित दश शास्त्र हमें प्राप्त होते हैं जो व्याकरण, द्विविध दर्शन या मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम, आयु, ज्योति, नाट्य व वास्तु या शिल्प-शास्त्र हैं। शास्त्रकाल में इन शास्त्रों की अंगविद्याओं का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। जैसे ज्योतिषशास्त्र से गणित-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र से संगीत-शास्त्र आदि। काम-शास्त्र अपनी साठ अंग-विद्याओं का संकेत देता है और लगभग इतनी ही अंग-विधाएं अर्थशास्त्र की होनी चाहिएं। यह चरण विक्रमी छठे संवत् तक विवर्धमान रहा प्रतीत होता है और इस काल में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ आरंभ हुआ तथा बौद्ध दर्शन-शास्त्रों और धर्म-शास्त्रों का भी उद्भव व विकास हुआ। अनन्तर प्रधानतः अपने आंतरिक कारणों से ही इस चरण का ह्रास होना आरंभ हो गया क्योंकि बाह्य इतिहास का कोई प्रभावशाली हस्तक्षेप होना ज्ञात नहीं है। आगे लगभग आठवीं विक्रमी संवत् तक इसकी सर्जनात्मकता क्षीण हो गई।

तत्पश्चात् तंत्र-चरण का आगमन हुआ। तंत्र शास्त्र से कुछ भिन्न ज्ञान-प्रक्रिया है और उपलब्ध तंत्रों में युक्ति पर न केवल बल ही नहीं दिया गया वरन् इसका मखौल भी उड़ाया गया। इसमें अनुभूति या आंतरिक अनुभव और प्रयोग पर बल दिया गया प्रतीत होता है। विशेषकर पारद या रसराज-तंत्र और हठतंत्र का इस चरण में अभूतपूर्व विकास हुआ और यह जन-जन में फैल गया। आर्ष, बौद्ध व जैन तीनों मतों को इसने प्रभावित किया तथा लगभग ग्यारहवीं विक्रमी संवत् में यह चरम अवस्था में पहुंच गया। यह शास्त्रकाल की तरह कोई मार्ग-दर्शक जगद्दृष्टि प्रदान नहीं कर सका परन्तु विभिन्न मतों के एकत्वकरण व संश्लेषण की क्षमता वामतंत्र में स्पष्ट प्रकट हुई प्रतीत होती है। बाद में, बाह्य इतिहास के हस्तक्षेप के बाद, वामतंत्र ने इस्लाम व खीस्त उपासनावलंबियों को

भी प्रभावित किया और तंत्र की आधुनिक पुस्तकों में इस्लामी मंत्रों का स्वेच्छापूर्वक समावेश देखा जा सकता है। उन्नीसवीं विक्रमी संवत् तक तंत्र का भी ह्रास हुआ और विज्ञान के आधुनिक चरण का आगमन हुआ जिसकी आवश्यक भूमिका तंत्र-चरण में तैयार हो चुकी थी।

जैसाकि संकेत दिया जा चुका है, बीसवीं विक्रमी संवत् के आरंभ से विज्ञान-चरण का उद्भव माना जा सकता है। पाश्चात्य विज्ञान अंग्रेज़ों के साथ भारत में आया और अपनी पद्धत्यात्मक सामर्थ्य और विनियोजन-क्षमता के बल पर यह न केवल संपूर्ण भारत में वरन् संपूर्ण विश्व में स्वीकृत हुआ। इसकी जड़ें यवनी विचारों में हैं, यद्यपि यवनी विद्याएं स्वयं भारत व मिश्र से ग्रहण की गई प्रतीत होती हैं। यह चरण मतों, वादों, उपासना-शैलियों के मिश्रण व संश्लेषण का चरण है और यह विश्व की विशेष संस्कृतियों के संश्लेषण का चरण भी प्रतीत होता है जिसका भारत अपवाद नहीं रह सकता।

4. इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय विद्याओं के वर्गीकरण व विकास की विशिष्ट शैली है और इसके इतिहास की रचना पाश्चात्य वर्गीकरणों व संकल्पनाओं के आधार पर करने से विकृत प्रस्तुति ही होगी। विशेषतः शास्त्रों में "प्राकृतिक विद्या" व "मानव-विद्या", "दर्शन व विज्ञान" तथा "विज्ञान" व "कला" में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता जो पाश्चात्य विज्ञानीय वर्गीकरण का आधार है। भारतीय विद्याओं के इतिहास में व्याकरण, दर्शन-शास्त्र व धर्म-शास्त्र में विशदतम अध्ययन व गवेषणा हुई है तथा वैदिक, बौद्ध व जैन मतों ने इसमें निःसीम योगदान किया है जिसके आधार पर हम आज यह डींग हांकने की स्थिति में हैं कि इन क्षेत्रों में मानव को भविष्य में मानसिक श्रम की ज़रूरत नहीं है।

यहाँ यह संकेत देना भी ज़रूरी है कि जिस प्रकार विभिन्न चरणों में ज्ञान के व्यवस्थीकरण में परिवर्तन हुआ उसी प्रकार ज्ञान की सामाजिकी में भी परिवर्तन हुआ और उसने अनुशासनों के आन्तरिक इतिहास को प्रभावित किया। उदाहरणतया, संहिता-चरण में ऋषि सब वर्णों से आए और ज्ञान-संपादन किया लेकिन शास्त्र-काल में ये लुप्त हो गए और ज्ञान का नेतृत्व आचार्यों व शास्त्रियों ने सँभाला जो अधिकतर एक ही वर्ण से हुए। शास्त्र-चरण के ह्रास का यह एक कारण हो सकता है। लेकिन तंत्र-चरण में पुनः सर्ववर्णयोगदान होना आरंभ हुआ और यह माना गया कि सदाशिवानुभवयुक्त तंत्रविद् , वर्णविद् और वर्णातिक्रामी होता है।

दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर - 302004

भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद

उन्मीलन, वर्ष - 7, अंक 1, जनवरी 1991 में प्रकाशित प्रोफेसर नारायण शास्त्री द्राविड़ का लेख "भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद" सुप्रतिष्ठित लेकिन लुप्तमहत्त्व सांख्यदर्शन को पुनः प्रतिष्ठित करने के आधुनिक विद्वानों के प्रयासों की एक विचारणीय कड़ी प्रतीत हुआ। लेख में यदि सांख्य-परम्परा की मूल मान्यताओं को अपरिवर्तित रखकर अस्पष्ट या असंगत प्रतीत होने वाले बिन्दुओं की व्याख्या की जाती तो विचारणीय होने के साथ-साथ लेख सराहनीय भी होता। लेकिन लेख में सांख्य की प्रचलित भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं का ही विकास करने का प्रयास किया गया है इसलिए यह लेख केवल विचारणीय मात्र है।

लेखक ने पृष्ठ 17 पर लिखा है – "सांख्य को यह मानना पड़ता है कि प्रकृति की विकास-प्रक्रिया (और विलय-प्रक्रिया भी) सोद्देश्य है। . . . . सांख्य सोद्देश्यता को भी चेतनता-निदर्शक नहीं मानता।"

भाषायी व्यवहार में जब सोद्देश्यता कही जाती है तब उस में उद्देश्य का अधिष्ठान चेतना को ही माना जाता है। हमेशा किसी चेतन प्राणी के ही किसी कार्य के उद्देश्य की चर्चा होती है। 'इस कमरे में मेज़ किस उद्देश्य से खड़ा है' ऐसी जिज्ञासा नहीं होती। अर्थात् उद्देश्य सामान्यतः चेतनता का निदर्शक माना जाता है। संभवतः श्री द्राविड़ भी ऐसा ही मानते हैं। इसलिए उन्हें कहना पड़ा कि "सांख्य सोद्देश्यता को भी चेतनता-निदर्शक नहीं मानता।"

अब सांख्यशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथों, यथा **सांख्यकारिका** और **सांख्य-सूत्र** आदि में 'उद्देश्य' को प्रकृति पर आरोपित किया ही नहीं गया। इन रचनाओं में प्रवृत्ति या अर्थ (प्रयोजन) शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिस कारिका को श्री द्राविड़ ने इस संदर्भ में उद्धृत किया है वहाँ भी 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग है। 'प्रवृत्ति' या 'अर्थ' (प्रयोजन) अनिवार्यतः चेतना का निदर्शक नहीं है अतः इस आधार पर प्रकृति में चेतन अथवा अचेतन प्रवृत्ति का आरोपण उचित नहीं है। न ही उक्त कारिका का ऐसा आशय है। सत्तावनवीं कारिका (वत्सविवृद्धिनिमित्तम्...) में केवल इतना कहा गया है कि बछड़े की वृद्धि के लिए क्षीर (अनभिज्ञ अचेतन) स्वतः बहने लगता है, इसी तरह अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति है। प्रकृति की सृष्टि का प्रयोजन तो इससे पूर्व (कारिका 56, 42, 21) में बताया जा चुका है, उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता ही नहीं। यहाँ तो केवल प्रकृति की प्रवृत्ति की 'स्वाभाविकता' का उल्लेख है, "पुरुष विमोक्षनिमित्तं" द्वारा उक्त प्रवृत्ति की 'परार्थता' को स्पष्ट किया गया है। अतः यह कहना कि सत्तावनवीं कारिका में प्रकृति की सोद्देश्यता

निरूपित है, कारिका को संदर्भ से अलग कर के अनर्थ करना ही है। 56 वीं कारिका में पुरुष के मोक्ष के प्रयोजन से प्रकृति की परार्थ और स्वार्थ प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। फिर 57 वीं, 58 वीं कारिका में क्रमशः परार्थ और स्वार्थ को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया गया है। अतः 57 वीं कारिका में प्रकृति की सोद्देश्यता चेतनता या अचेतनता की कल्पना निराधार है।

वास्तव में अचेतन प्रकृति में उद्देश्य का आरोपण न तो सांख्य-सम्मत है और न ही आवश्यक। सांख्य प्रकृति और उसके विकारों को निष्प्रयोजन या निरर्थक नहीं मानता। उसका प्रयोजन पुरुषार्थ है। भोग्यरूपता और अपवर्गसाधनरूपता स्वभावतः प्रकृति में निहित है। यह पुरुषकृत या ईश्वरप्रदत्त नहीं है। बस, प्रकृति की प्रयोजनवत्ता का इतना ही आशय है। प्रकृति में सोद्देश्यता का आरोपण सांख्य-सृष्टिशास्त्र में पुरुष की भूमिका को नगण्य घोषित करने तथा सांख्य को जड़वादी घोषित करने के लिए किया जाता है, जोकि सांख्य-सम्मत नहीं है।

पृष्ठ 23 में श्री द्राविड़ प्रश्न उठाते हैं कि 'पुरुष स्वयं प्रकृति के साथ संबद्ध होता है या प्रकृति ही स्वयं पुरुष के साथ संबद्ध होकर तदनन्तर अलग हो जाती है' और 59 वीं कारिका (रंगस्य दर्शयित्वा. . .) के आधार पर उत्तर देते हैं कि 'प्रकृति स्वयं ही पुरुष के अभिमुख या पराङ्मुख होती है। इस संबंध में पुरुष की ओर से कोई पहल या प्रक्रिया घटित नहीं होती।. . . . . पुरुष का बंध-मोक्ष प्राकृत क्रियाओं पर ही निर्भर करता है। न बंध के लिए, न ही मोक्ष के लिए पुरुष स्वतन्त्र है।" यह उत्तर भी सांख्य-सम्मत नहीं है। 59 वीं कारिका में पुरुष से प्रकृति कब निवृत्त होती है इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है और यह बताया गया है कि नर्तकी जिस प्रकार अपनी कला दिखा चुकने के बाद नृत्य से निवृत्त हो जाती है उसी तरह पुरुष के सम्मुख स्वयं को प्रस्तुत करने के बाद (पुरुषार्थ-सिद्धि के बाद) प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है। प्रकृति की प्रवृत्ति और निवृत्ति इसलिए कही जाती है कि भोग्य रूप में वही प्रस्तुत होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रवृत्ति या निवृत्ति में स्वतंत्र या पुरुष-निरपेक्ष है।

"पंग्वंधवदुभयोरपि संयोगः". . . . . . (21 वीं कारिका), भोक्तृभाव और कैवल्यार्थ प्रवृत्ति (17 वीं कारिका) को पुरुष में स्वीकार करना, केवल-ज्ञान के लिए तत्त्वाभास की आवश्यकता (जोकि पुरुष का प्रयास है, प्रकृति का नही) भोग तथा अपवर्ग को पुरुषार्थ (प्रकृत्यर्थ नहीं) कहना, इन सब स्पष्ट कथनों के बाद भी यह कहना कि पुरुष की ओर से कोई पहल नहीं होती या बंध-मोक्ष के लिए पुरुष स्वतंत्र नहीं है (यदि बंध और मोक्ष का अर्थ भोग और अपवर्ग ही हो तो) – ऐसा निष्कर्ष निकालना कैसे संगत होगा? भोगापवर्ग पुरुषार्थ है, तब 'मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास कोई मतलब नहीं रखता' कहना भी अनुचित है। हाँ, सांख्य के नाम से कोई स्वतंत्र दर्शन प्रस्तुत करना हो तब बात अलग है। 'पुरुषार्थ ज्ञानमिदं' (सांख्यं) है और यह प्रकृति को नहीं पुरुष को ही 'समाख्यातम्' है।

सांख्य दर्शन में इस प्रकार की भ्रांत मान्यताओं का प्रवेश अनायास ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। बुद्धि की प्रकृतिरूपता और "तस्मान्न बध्यते . . . . " (62 वीं कारिका) ऐसी भ्रांतियों का आधार है। यह ठीक है कि 'सर्व प्रत्युपभोगं . . . पुरुषस्य साधयति बुद्धि . .' (37 वीं कारिका) लेकिन इससे भोगादि में बुद्धि की महत्ता ही प्रतिपादित होती है न कि पुरुष की महत्त्वहीनता। समस्त भोगसाधन बुद्धिपरक होने पर भी भोक्तापन बुद्धि में नहीं पुरुष में है। बुद्धिलब्ध समस्त का जब तक चेतना में अवसान नहीं होता भोग नहीं कहलाता। बुद्धि साधन है और पुरुष साधक। साधक गौण नहीं होता। साधन तो महत्त्वपूर्ण होता ही है।

62 वीं करिका को पूर्वापर कारिकाओं से अलग तथा स्वतन्त्र मानकर समझने से ही ऐसी मिथ्या मान्यता सांख्य पर आरोपित होती है। यह कारिका वास्तव में तत्त्वाभ्यास के लिए पुरुष द्वारा स्वीकार की जाने वाली 'धारणा' का अंग है। 61 से 63 वीं कारिकाएं उस धारणा का रूप हैं जिसे पुनः–पुनः धारण करके (तत्त्वाभ्यासात्) केवलज्ञान प्राप्त होता है।

लेख के शीर्षक 'भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद' से ऐसा लगता है कि लेखक सांख्य दर्शन को 'जड़वादी' घोषित करना चाहते हैं। 'आध्यात्मिक' विशेषण तो पुरुष-प्रत्यय की उपस्थिति के कारण उत्पन्न विवशता मात्र है। दार्शनिक सिद्धान्तों में जड़वाद उस सिद्धान्त को कहने की परम्परा है जो सत्तामीमांसीय दृष्टि से मूल तत्त्व को जड़ (अचेतन) माने और चेतना को उसका एक रूप या अभ्युपगम माने। इसके विपरीत चेतना को मूल तत्त्व मानने वाला मत चेतनावाद कहलाएगा। मूल्य-दृष्ट्या जड़ को मूल्यों का अधिष्ठान माननेवाला भौतिकवाद और चेतनात्मा को मूल्याधिष्ठान मानने वाला मत अध्यात्मवाद कहलाएगा। सांख्यमत में मूल्यों का अधिष्ठान चेतन पुरुष है, अतः वह अध्यात्मवाद ही कहा जाएगा। सत्तामीमांसीय दृष्टि से सांख्य न तो जड़वादी है और न ही चेतनवादी, बल्कि वह दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, इसीलिए इसे द्वैतवादी मानने की परम्परा है। यदि कोई नया नाम देना आवश्यक हो तो इसे आध्यात्मिक यथार्थवाद या वैज्ञानिक अध्यात्मवाद आदि कहा जा सकता है। जड़वाद तो किसी भी मान्य अर्थ में नहीं।

बी. कामेश्वर राव,
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला,
पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर, म.प्र.

श्रुति और श्रुतिप्रामाण्य के प्रवाद : कुछ विचार

डॉ. हर्षनारायण जी ने दयाकृष्ण जी के लेख पर प्रकाशित मेरी प्रतिक्रिया पर अपनी प्रतिक्रिया '**उन्मीलन**' के जुलाई 1991 अंक में व्यक्त की है। इस प्रतिक्रिया में हर्षनारायण जी ने दयाकृष्ण जी के लेख में प्रस्तुत किये गये दो मुद्दों को पुनः उपस्थित करते हुए एक नया मुद्दा, जो वेदों के स्वतःप्रामाण्य से सम्बन्ध रखता है, उपस्थित किया है। ऐसा लगता है मानों दयाकृष्ण जी के निष्कर्ष से हर्षनारायण जी सहमत हैं। लेकिन जैमिनि और व्यास को वैदिक परंपरा के विपर्यासक सिद्ध करने वाले दयाकृष्ण जी वेद-प्रामाण्य के विरोधी नहीं प्रतीत होते जबकि हर्षनारायण जी का मुख्य प्रतिपाद्य वेदों का अप्रामाण्य ही है। मैंने अपनी प्रतिक्रिया में वेदों के स्वरूप के सम्बन्ध में ही मुख्यतया चर्चा की थी। वेदों के स्वतःप्रामाण्य का खंडन या मंडन मेरी चर्चा का प्रमुख उद्देश्य नहीं था। मैंने यह दिखाने की कोशिश की थी कि किसी उपनिषद् का संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक का अंश होना या न होना उसकी प्रमाणता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह भी मैंने स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि वैदिक वाङ्मय कुछ निकषों के आधार पर ही वर्गीकृत तथा संघटित किया गया है। वह इतना अव्यवस्थित नहीं जैसा वह दिखाया गया है। हर्षनारायण जी कहते हैं कि वेद स्वयं अपनी स्वतःप्रमाणता का प्रतिवाद करते हैं, अतः वे कतई स्वयं प्रमाण नहीं हो सकते। तथापि वेदों की अपौरुषेयता तथा स्वतःप्रमाणता की धारणायें बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं। साथ ही विधि-निषेधों को ही वेदों का सार मानने की मीमांसा की भूमिका और महावाक्यादि को ही उपनिषद् या वेद का मुख्य प्रतिपाद्य मानने की वेदांत की भूमिका भी प्राचीन काल से ही विद्वन्मान्य रही है। संपूर्ण वैदिक वाङ्मय को कोई भी भारतीय दार्शनिक संप्रदाय प्रमाण नहीं मानता। ऐसी हालत में वेदों के स्वतःप्रामाण्य का अर्थ विधि-निषेध-वाक्य या महावाक्य जैसे वाक्यों का स्वतःप्रामाण्य ही होगा। अर्थवादादि वाक्यों के प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता। विधिनिषेध-वाक्य नैतिक वाक्यों या कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधक वाक्यों के प्रतीक हैं। वैदिक काल में यज्ञादि सम्बन्धी विधि-निषेध कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधक ही हुआ करते थे क्योंकि यज्ञादि मनुष्य के कर्त्तव्य और हिंसा आदि अकर्त्तव्य माने जाते थे। इन वाक्यों को स्वतःप्रमाण मानने का सीधा अर्थ यही है कि नैतिक वाक्य निरपेक्षतया प्रमाण होते हैं। यहां पाश्चात्य दार्शनिक कांट की निरपेक्ष आदेश की अवधारणा लागू मानी जा सकती है। यज्ञादि की कर्त्तव्यता तथा हिंसादि की अकर्त्तव्यता स्वयंसिद्ध है, उन्हें किसी प्रमाण से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अपौरुषेयता की अवधारणा भी इस निरपेक्ष प्रामाण्य को ही लक्षित करती है। किसी पुरुष या व्यक्ति के कथन मात्र से कोई कार्य कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य नहीं

हो जाता। आजकल यज्ञ का स्थान अन्य कर्त्तव्यों (या नित्य कर्म) को माना जाय तो उसकी कर्त्तव्यता पूर्णतया व्यक्ति-निरपेक्ष तथा फल-निरपेक्ष ही रहेगी।

जैसे कर्त्तव्यता तथा अकर्त्तव्यता निरपेक्ष प्रमाण होते हैं वैसे ही अभिज्ञ अधिकारी लोगों के उपदेश भी निरपेक्ष प्रमाण होते हैं। 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य इस प्रमाणता के उदाहरण हैं। जीव स्वयं होते हुए भी अपने को एक क्षुद्र शरीरी समझता है और तरह-तरह के दुःखों से पीड़ित हुआ करता है। जीव के इस आत्मविषयक अज्ञान का निरसन ज्ञाता गुरु के उपदेश से ही सम्भव है। गुरु के उपदेश की असत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। विशेष परिस्थिति में उपदेश-वाक्यों का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध मानना पड़ता है।

इस तरह **मीमांसा** ने नैतिक वाक्यों को और वेदांत ने अध्यात्मपरक उपदेश-वाक्यों को ही वेदों का निचोड़ मानकर उनकी एकमात्र प्रमाणता के जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये वे वास्तव में शब्दों के स्वतःप्रामाण्य-संबंधी सिद्धान्त हैं। सभी शब्द अनुमानादि-निरपेक्ष स्वतःप्रमाण नहीं हो सकते। नैतिक आदेश तथा आध्यात्मिक उपदेश को संप्रेषित करने वाले वाक्य ही-निरपेक्ष शब्द-प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

वैशेषिक, बौद्ध जैसे दर्शनों ने शब्द को इसीलिए स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना कि उनका प्रमाणता-निराकरण अनुमानादि के द्वारा ही संभव होता है। नैतिक आदेश तथा आध्यात्मिक उपदेशों को किसी अनुमान (या प्रत्यक्ष से) प्रमाणित करना संभव नहीं है फिर भी इन्हें प्रमाण माना ही जाता है।

वेदों के प्रामाण्य के साथ स्मृतियों के प्रामाण्य का प्रश्न जुड़ा हुआ है क्योंकि स्मृतियां वेदों पर आधारित मानी जाती हैं। असलियत यह है कि स्मृतियों में जो धर्माधर्म-विचार है वह बहुत कुछ वेद-वाक्यों से भिन्न है। वैदिक विधि-निषेधों का आधार प्रत्येक स्मृति के विधि-निषेध के लिए प्राप्त करना असंभव है। तथापि स्मृति-विधि-निषेध प्रमाण माने गये हैं। अन्य प्रकार के शिष्ट-सम्मत आचार भी प्रमाण माने गये हैं।यह वेद-प्रामाण्य के संप्रत्यय के विस्तार से सम्भव हुआ है। इस मुद्दे की चर्चा इस संक्षिप्त टिप्पणी में अप्रासंगिक होगी।

नारायण शास्त्री द्राविड़

पुस्तक - समीक्षा

शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ, ले. — प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रकाशक. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली, 1992, पृ. XIV + 119 : रु. 90/ =

प्रस्तुत ग्रन्थ इतिहास एवं दर्शन के सुविख्यात विद्वान् प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे के हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला की ग्यारहवीं लड़ी में दिये गये तीन व्याख्यानों का लिखित रूप है। वत्सलनिधि का यह कार्य अभिनन्दनीय है कि उसने शंकराचार्य पर प्रोफेसर पाण्डे जैसे शीर्षस्थ विशेषज्ञ के व्याख्यानों को सम्पन्न कराया और फिर उनका लिखित रूप प्रकाशित कराया। शंकराचार्य की सामान्यतः विदित जीवनी का आधार परम्परागत चरित एवं अनुश्रुतियाँ रही हैं जिनमें अन्तर्निहित ऐतिहासिक तत्त्व अभी शोध के विषय हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शंकर के कार्यकलाप के एकाधिक आयामों और उनके सामाजिक सन्दर्भ एवं महत्त्व का सम्यक् निरूपण भी अभीप्सित रहा है। उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन की एक दीर्घ एवं समृद्ध परम्परा रही है, पर उनके अन्तर्गत वैचारिक द्वन्द्व, विकास-क्रम एवं स्तर-भेद का विवेचन अभी सावकाश है। उनके ज्ञानमार्ग की आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक सार्थकता का सम्यक् आकलन भी एक समस्या है। इन्हीं समस्याओं को दृष्टिगत कर प्रो. पाण्डे ने आधुनिकतम ऐतिहासिक एवं दार्शनिक शोधों की पृष्ठभूमि में शंकर-विषयक मूल सामग्री के पूर्वाग्रह-विनिर्मुक्त आलोचनात्मक परीक्षण एवं उसके मुख्य निष्कर्षों को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

प्रथम व्याख्यान 'इतिहास और आख्यायिका' पर है। इसमें शंकर-विषयक इतिहास-निरूपण के लिये उपलब्ध मूल सामग्री का ऐतिहासिक सर्वेक्षण, वर्गीकरण एवं आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है। इस सामग्री के चार वर्ग विनिर्दिष्ट किये गये हैं - (1) शंकर की रचना के रूप में प्रसिद्ध कृतियाँ और उनके शिष्यों, समसामयिकों एवं आसन्नवर्तियों की रचनाएं, (2) शंकर की परम्परागत जीवनियाँ, (3) मठों (विशेषरूप से शृंगेरी एवं काँची) की परम्पराएं, और (4) प्रकीर्ण साहित्य। शंकर के जीवन-चरित्र के ऐतिहासिक निरूपण में सबसे बड़ी कठिनाई यह बतायी गई है कि उपलब्ध **शंकर-विजय,** जिसमें तत्सम्बन्धी परम्पराएं संग्रहीत की गयी हैं, 14 वीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है (पृ. 2)। वे विवरण शंकर की मध्यकालीन आख्यायिका के विभिन्न संस्करणों के रूप में अधिक हैं और इतिहास के रूप में कम। उनमें व्यापक समानता के बावजूद पारस्परिक विरोध एवं असंगतियाँ हैं तथा चमत्कारी घटनाओं एवं अतिशयोक्तियों का समावेश है। वे शंकर को एक दिव्य अवतार के रूप में चित्रित करते हैं। व्यक्तिपरक एवं आदर्श-प्रधान इतिहास की भारतीय परम्परा में इतिहास एवं आख्यायिका का भेद धुँधला हो जाता है और यह, जैसाकि विद्वान लेखक ने स्पष्ट किया है, आधुनिक इतिहास-दर्शन के अनुरूप नहीं कहा जा सकता (पृ. 4)।

शंकर के इतिहास पर विचार करते समय सबसे पहले उनकी तिथि की विवादग्रस्त समस्या सामने आती है। प्रो. पाण्डे ने साक्ष्यों के विवेचन के आधार पर काँची मठ की परम्परा में श्रद्धा रखने वाले उन विद्वानों के मत की अविश्वसनीयता सिद्ध की है जो शंकर का जीवन-काल बहुत पहले (ई. पू. 508 से 476) मानते हैं। उन्होंने नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा उल्लिखित कम्बुज देश के उस अभिलेख के साक्ष्य को भी सन्दिग्ध दिखाया है जिससे यह संकेत मिलता है कि शंकर, जिनसे चम्पा-नरेश इन्द्र वर्मा के गुरु शिवसोम ने शास्त्रों का अध्ययन किया था, नवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते (पृ. 12)। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों की समीक्षा के उपरान्त पाण्डे जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "शंकर का जीवन-काल सम्भवतः 7 वीं शताब्दी का अन्तिम चरण एवं 8 वीं का प्रथम चरण रहा हो"(पृ. 13)। यह मत विश्वसनीय लगता है, पर इसे अधिकतम सम्भावना के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है : इस पर उनका एकपक्षीय आग्रह नहीं है। विद्वान लेखक ने दूसरी सम्भावना का भी उल्लेख किया है : "यदि शंकर और कुमारिल का साक्षात् सम्पर्क अविश्वसनीय माना जाये और शिवसोम का शंकर से साक्षात् सम्पर्क स्वीकार किया जाये तो ई. 788 की तिथि सम्भाव्य हो जाएगी"(पृ. 13)। वास्तव में इतिहास की पहुँच अधिकतम सम्भाव्यता की खोज के आगे नहीं हो सकती। लेखक ने शंकर से सम्बन्धित अनुश्रुतियों का भी विवेचन किया है और उनके ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं की अधिकतम सम्भाव्यता को सुनिश्चित करने का सफल एवं सराहनीय प्रयास किया है। यह बताया गया है कि उनके प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अधिकांश चरितों में ऐकमत्य मिलता है। उनके केरल के कालटी ग्रामवासी शिवगुरु नामक नम्बूद्री ब्राह्मण एवं आर्याम्बा का पुत्र होने की परम्परा की पुष्टि की गई है और उस परम्परा को अविश्वसनीय बताया गया है जिसके अनुसार उनका जन्म चिदम्बरम् में हुआ था। आठवें वर्ष में शंकर ने आपत्संन्यास ग्रहण किया। उनके गुरु गोविन्द, तथा गोविन्द के गुरु गौडपाद थे, जिन पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव निस्सन्देह है। शंकर की दिग्विजय, तीर्थयात्राओं, षण्मत (शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, कौमार एवं कापालिक)– स्थापन, एवं मठ-स्थापना से सम्बन्धित परम्पराओं एवं अनुश्रुतियों की प्रामाणिकता का सूक्ष्म आलोचनात्मक परीक्षण तथा उनका गहन नीर-क्षीर-विवेचन किया गया है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न पक्षों की पहचान एवं उनका सुसंगत, संयत एवं निष्पक्ष निरूपण एक जटिल कार्य था जिसे यहाँ समीचीन ढंग से सम्पन्न किया गया है। पर जो परम्पराएं या उनके अंश ऐतिहासिक साक्ष्य-विज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतरे हैं उन्हें अग्राह्य मानने में पाण्डे जी ने तनिक भी संकोच नहीं किया है। उदाहरणार्थ, उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में यह नहीं माना जा सकता कि शंकर ने उपर्युक्त 6 मतों की स्थापना की। केवल इतना ही समझा जा सकता है कि सम्भवतः उन्होंने उनमें सुधार किया।

शंकर की आख्यायिका के विश्लेषण एवं विवेचन के उपरान्त उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की ऐतिहासिकता को स्पष्ट किया गया है। उन्हें अलौकिक ज्ञानी, सिद्ध योगी,

शास्त्रार्थी पण्डित, पर्यटक, प्रचारक, महान भक्त, तान्त्रिक गुरु, स्नेही पुत्र एवं गुरु और लोक-संग्रह में संलग्न महापुरुष के रूप में मूल्यांकित किया गया है। उनके व्यक्तित्व के उस पक्ष पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है जो उनके अस्पृश्यता-विरोधी दृष्टिकोण तथा विचार-स्वातन्त्र्य-जन्य परम्परा-विरोधी साहसिक कर्मठता से सम्बन्धित है। प्रथम का उदाहरण वह कथा है जिसमें शंकर की काशी के एक चाण्डाल से मुलाकात और उसके वचनों से उनके प्रतिबोधित होने की बात मिलती है। उनके साहसिक, परम्परा-विरोधी कार्य का उदाहरण उस अनुश्रुति में मिलता है जिसके अनुसार उन्होंने संन्यासी होने के बावजूद अपनी माता की अन्त्येष्टि अनुष्ठित की और इसके परिणाम-स्वरूप नम्बूद्री समाज में बहिष्कार अर्जित किया। शंकर की भूमिका एक 'संक्रान्ति युगीन' महापुरुष के रूप में सुनिश्चित की गई है जिसमें भारतीय परम्परा के प्राचीन युग का समन्वयात्मक उत्कर्ष एवं मध्ययुगीन एकान्तनिष्ठा एक-साथ मिलती है (पृ. IX)।

शंकर के नाम से प्रसिद्ध सैंकड़ों ग्रन्थ बताये गये हैं पर उनमें से कितने प्रामाणिक हैं इस पर बहुत मतभेद है। प्रामाणिकता-निर्णय की विभिन्न कसौटियों की तर्कपूर्ण समीक्षा के उपरान्त यह प्रस्थापना प्रस्तुत की गयी है कि शंकर की प्रामाणिक रचनाओं में दस **उपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, अध्यात्म-पटल-भाष्य, योगसूत्रभाष्यविवरण, उपदेशसाहस्री, प्रपंचसार तथा कुछ स्तोत्र और लघु प्रकरण माने जा सकते हैं : पर योगसूत्रभाष्य-विवरण** की प्रामाणिकता असिद्ध बताई गई है और **प्रपंचसार** को एक संग्रहमात्र कहा गया है (पृ32)।

शंकर की रचनाओं में प्रतिबिम्बित उनके युग के निरूपण में सामन्ती व्यवस्था की विशिष्ट भूमिका पर कुछ नवीन प्रकाश डाला गया है (पृ. 13 और आगे)। राजनीतिक एकता एवं स्थिरता के अभाव, राजनीतिक सत्ता के विखण्डन, अराजकता एवं तज्जनित अव्यवस्था का यथातथ्य निदर्शन किया गया है। यह अराजकता, जैसा कि कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है, भूरिराजकता से सम्बद्ध थी। इस स्थिति में राजपुत्रों और सामंतों का बोलबाला था (पृ. 15)। अराजकता के इस काल में वर्णाश्रम पर आधारित समाज-व्यवस्था का ह्रास भी शंकर के एक भाष्य के साक्ष्य के आधार पर स्पष्ट किया गया है। इस युग की धार्मिक परिस्थिति के विवेचन के सन्दर्भ में विभिन्न धार्मिक धाराओं, श्रौत धर्म, मन्दिर-केन्द्रित प्रतिमा-पूजन वाले स्मार्त-पौराणिक धर्म, हीनयान एवं महायान नामक दो प्रधान शाखाओं में बंटे हुए बौद्ध धर्म, जैन धर्म और उसके सम्प्रदाय, शाक्त धर्म एवं विभिन्न धर्मों में प्रचलित तान्त्रिक उपासना तथा दक्षिण के आलवारों एवं नायनारों के नेतृत्व में सामाजिक ऊंच-नीच एवं विधि-विधान के उपेक्षा करने वाले भक्ति के भावात्मक धर्म पर बहुमूल्य प्रकाश डाला गया है। संकर एवं समन्वय , बहुरूपता एवं भेद-सहिष्णुता, उपासना की नई पद्धति, जिसमें तन्त्र, मन्त्र, और प्रतिमा का विपुल प्रयोग था, वेद के प्रमाण को माननेवाली आस्तिक और उसे न मानने वाली नास्तिक धाराओं का संगम एवं संघर्ष, नाना सम्प्रदायों का शान्तिपूर्ण सहास्तित्व – ये इस युग के धार्मिक जीवन की प्रमुख

प्रवृत्तियाँ निरूपित की गयी हैं। भारतीय संस्कृति के इतिहास को आधारभूत मूल्यों के परिवर्तन का इतिहास अवधारित करते हुए उनके प्राधान्य के आधार पर उसके चार युगों का निर्धारण किया गया है–

(1) विधि-विधानात्मक कर्म वाला वैदिक युग, (2) बुद्ध से शंकर तक का ज्ञान युग, (3) मध्यकाल का भक्ति युग, (4) 19 वीं सदी से प्रारम्भ होने वाला नैतिक सामाजिक कर्म का युग। इस ऐतिहासिक क्रम में शंकर का वही संक्रान्ति युगीन स्थान माना गया है जो बुद्ध का था। यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस युग में काव्य एवं कला के क्षेत्रों में सर्जना की कोई कमी नहीं थी।

द्वितीय व्याख्यान (पृ. 35 - 74) का शीर्षक 'तत्त्व : प्रतीति और विचार'।

यहाँ शंकर को परम्परा की नयी व्याख्या और स्वतन्त्र तर्क के बल से ऐसे अद्वैतवाद के साम्राज्य का संस्थापक सिद्ध किया गया है जिसमें अनेक शाश्वतिक विरोध परिहृत हो जाते हैं। आधुनिक काल में डायसन, राधाकृष्णन् आदि विद्वानों ने शंकर के दर्शन का निरूपण किया है। पर यहाँ प्रो. पाण्डे ने शंकर के चिन्तन के स्रोतों, उसकी पद्धति, उसके विभिन्न आयामों के स्वरूप एवं समवेतत्त्व, तथा भारतीय बौद्धिक-सांस्कृतिक इतिहास में उसकी 'क्रान्तिकारी' भूमिका का सूक्ष्म, विशद एवं मौलिक विवचेन किया है : इसमें भारतीय इतिहास, साहित्य, धर्म और दर्शन में उनकी गहरी पैठ एवं प्रखर आलोचनात्मक, ऐतिहासिक दृष्टि परिलक्षित होती है।

यह स्पष्ट किया गया है कि शंकर ने प्राचीन वेदान्त-परम्परा की पुनर्व्याख्या इस रूप में की कि उसे प्रतिसंस्कृत कर उन्होंने विशुद्ध ज्ञानवाद का प्रतिपादन किया। यह विशुद्ध ज्ञानवाद शांकर वेदान्त को एक दार्शनिक धर्म का रूप प्रदान करता है – "तात्त्विक जिज्ञासा या विचार से यह दर्शन बनता है और अपने नैतिक-आध्यात्मिक गुणों पर आग्रह एवं मोक्षार्थी होने के कारण धर्म"। शंकर के अनुसार निवृत्तिपरक नैतिक और आध्यात्मिक गुण ही ब्रह्म-जिज्ञासा या वेदान्त-विचार का अधिकार प्रदान करते हैं। उनके चिन्तन के तीन पक्ष निरूपित किये गये हैं - आगमार्थनिर्वचन (आगम की व्याख्या), प्रमाणमूलक तत्त्व-विवेचन, एवं आत्म-विचार। उनके दर्शन के तीन सोपान भी संदृष्ट किये गये हैं– आत्मविचार, ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व का विचार, और जगत् के मिथ्यात्व का विचार। इस क्रम में शंकर की ज्ञान-मीमांसा एवं सत्ता-मीमांसा की आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक समीक्षा के उपरान्त यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि उनकी ज्ञान एवं सत्ता की मीमांसा लोक-सिद्ध अनुभव से प्रारम्भ होकर ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान तक पहुँचती है और वहाँ से व्यावहारिक जगत् तक दुबारा पहुँचने के लिये अनेक सम्प्रत्यों जैसे सत्य-द्वय, उपाधि, माया एवं अध्यास के पुल बनाती है।(पृ. 73)।

वेदान्त की परम्परा के अन्तर्गत 'विवादी स्वरों के सामंजस्य के लिये' शंकर ने सत्य-द्वय– व्यावहारिक सत्य (विकारी वस्तुओं के तदनुसार ज्ञान का सत्य) एवं पारमार्थिक सत्य (नित्य वस्तु के नित्य ज्ञान का सत्य)– के सिद्धान्त को अपनाया है। यहाँ वे महायान

के सत्य-द्वय–(संवृति एवं परमार्थ) और निष्प्रपंच अद्वय परमार्थ के निकट हो जाते हैं। महायान — बौद्ध दर्शन का प्रभाव उन पर गौडपाद के माध्यम से पड़ा होगा। पर प्रो. पाण्डे ने यह युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि शंकर की दृष्टि महायान के सिद्धान्तों का "अनुवाद नहीं है।" "महायानियों ने व्यवहार के निषेध से ही परमार्थ को लक्षित किया, किन्तु शंकर व्यावहारिक जगत् में परमार्थ की छाया का आभास पाते हैं" (पृ. 55)। "वे महायान के अनात्मवादी एवं शून्यवादी आग्रह का खण्डन करते हैं" (पृ. 56)। इस प्रकार शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहने की परम्परा का खण्डन किया गया है।

पारमार्थिक स्तर पर शंकर ब्रह्म, अथवा आत्मा को ही सत्य और सृष्टि-प्रपंच को वास्तविक नहीं अपितु मायिक, मानते हैं पर वे व्यावहारिक स्तर पर सृष्टि-प्रपंच, अथवा जगत्, की सत्ता स्वीकार करते हैं। अत: यह ठीक कहा है कि उनका दर्शन एक सीधा-सादा सपाट मत नहीं था, और उन पर व्यवहार-विरोधी एवं अवैज्ञानिक होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। उन्हें **एम्पिरिसिज़्म** (प्रत्यक्षवाद), रैश्नेलिज्म (तर्कवाद), थीअलॉजिकल **डाग्मेटिज़्म** (श्रद्धामूलक मतवाद) के संकुचित दायरों में भी नहीं बाँधा जा सकता। शंकर के चिन्तन के मूल्यांकन के सन्दर्भ में यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "वेदान्त के श्रुति-सिद्ध आध्यात्मिक सम्प्रदाय को तार्किक रक्षा प्रदान करता हुआ एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान की रचना करता है जिसे परम्परा का प्रतिसंस्कृत रूप भी कहा जा सकता है" (पृ. 73)।

तृतीय व्याख्यान का शीर्षक है **'मूल्य : जीवन और साधना'**। इसके अन्तर्गत पुरुषार्थ, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की दो दृष्टियों, समाज-व्यवस्था, नैतिक आदर्श, ज्ञान एवं कर्म, आनन्द, मुक्ति एवं साधन, शाब्दज्ञान और उपासना एवं ध्यान से सम्बन्धित शंकर के विचारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वैदुष्यपूर्ण, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक विवेचन तथा मूल्यांकन किया गया है। यहाँ शंकर के संन्यासवादी ज्ञानमार्ग की आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक सार्थकता पर विचार किया गया है।

यह स्पष्ट किया गया है कि शंकर वैदिक परम्परा के अन्तर्गत प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की दो धाराओं को अवधारित करते हैं पर वे वैदिक प्रवृत्ति-धर्म एवं उससे सम्बन्धित वर्ण-व्यवस्था को अविद्या के अन्दर ही प्रामाणिक मानते हैं (पृ. 90)। उनकी यह दृष्टि कर्मविधान-युक्त प्रवृत्ति-धर्म को एक अंग के रूप में ग्रहण करते हुए भी 'उसे अन्दर से खोखला सिद्ध करती है' (पृ. 81)। 'कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम-व्यवस्था मिथ्या अभिमान अथवा अविद्या पर आधारित हैं, संन्यास अपने को ठीक पहचानना ही है, और ज्ञानी के लिये किसी विधि-विधान का बन्धन नहीं है'– शंकर की इन धारणाओं में परिलक्षित दृष्टि का मूल्यांकन करते हुए यह महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किया गया है कि इसमें 'एक विश्वजनीन और रूढ़ि-मुक्त मानव-समाज की सम्भावना निहित है' (पृ. 82-83)। शंकर द्वारा प्रतिपादित साधना-मार्ग के दो प्रकार निरूपित किये गये हैं – "एक तो संन्यासपूर्वक ज्ञान का, जो सद्योमुक्ति का हेतु है, दूसरा कर्मयोग का जो ईश्वरार्पण के भाव से आरम्भ हो कर सत्त्वशुद्धि के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति और सर्वकर्म-संन्यास के क्रम से मोक्ष का हेतु बनता है।

इन दोनों ही प्रकारों में विभिन्न रूप से ध्यानयोग अन्तर्भूत है। भक्ति एक में ज्ञान-प्रधान रूप में, दूसरे में कर्म-प्रधान रूप में उपलब्ध होती है (पृ. 109)। शंकर की साधना की अनिवार्यता-विषयक दृष्टि भी अनेकस्तरीय संदृष्ट की गयी है। 'वे श्रौत कर्मकाण्ड के समर्थक नहीं हैं, स्मार्त धर्म को वैकल्पिक मानते हैं, उपासनाओं को उपयोगी, साधारण धर्म को आवश्यक, कर्मयोग को मुक्ति के मार्ग तक ले जाने वाला और ज्ञान को साक्षात् मुक्ति का द्वार। भक्ति का वे कर्म और ज्ञान में अन्तर्भाव करते हैं, योग को सम्यग्दर्शन का अन्तरंग मानते हैं। . . . . . उन्होंने . . . . . अद्वैतपरक तान्त्रिक साधना को अपने सम्प्रदाय की साधना से जोड़ा है' (पृ. 110)।

मध्य युग में शंकर के दर्शन की एकांगी व्याख्या ऐकान्तिक कर्म-त्याग और जगन्मिथ्यात्व के प्रत्ययों से होने लगी। पर इस परम्परा की आधारहीनता को यहाँ प्रमाणित कर दिया गया है। यह सिद्ध किया गया है कि शंकर का नैष्कर्म्य किसी भी रूप में अकर्मण्यता का सिद्धान्त नहीं है, और वे निष्काम कर्त्तव्य-पालन, योग-साधना, भक्तिपूर्वक देवोपासना, लोकसंग्रह, इन सभी रूपों में कर्म का समर्थन करते हैं (पृ. 115)।

ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार दिया गया है जिसमें मुख्य निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है। एक व्यापक सन्दर्भ में शंकर की भूमिका का आकलन करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया गया है कि उनके 'कार्य एवं चिन्तन के आधार पर हिन्दू धर्म का आकार मध्यकाल में निर्मित एवं परिष्कृत हुआ है जो अब एक विशालतर मानवीय-सांस्कृतिक प्रेरणा का नया और अक्षय स्रोत है' (पृ. 116)।

प्रो. पाण्डे की प्रस्तुत कृति भारतीय इतिहास एवं दर्शन के क्षेत्रों में एक बहुमूल्य स्तुत्य योगदान है। इसमें शंकर की जीवनी, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व, उनके धर्म एवं दर्शन, तथा उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों से सम्बन्धित गुत्थियों को युक्तियुक्त एवं सुसंगत रीति से सुलझाया गया है। इसमें जो कुछ कहा गया है वह तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर इसके साथ ही साथ वह जो नई दृष्टि, दिशा एवं मार्गदर्शन प्रदान करती है उसका भी विशेष महत्त्व है। यह कृति निस्संदेह शंकर तथा उसके धर्म एवं दर्शन पर, और मध्यकालीन भारतीय धर्म एवं दर्शन पर आगे शोध के लिये एक आधार ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित होगी। सामान्य पाठकों के लिये भी यह शंकर और उनके बहु-आयामी चिन्तन-वितान एवं सन्दर्भ के विषय में समुचित एवं प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से अतीव उपयोगी होगी।

बी. एन. एस. यादव
152, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद, 211002

फरवरी, 1993 प्रकाश्य

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

यशदेव शल्य

सत्ताविषयक अन्वीक्षा पुस्तक में प्रस्तुत लेखक ने अस्तित्व को सत् की आत्म-अपर्याप्तता — आत्म-व्यवहितत्व — के रूप में और सत् को प्रतिमान, साध्य आत्म-अव्यवहितत्व या भाव्यता के रूप में देखा था। अस्तित्व और सद्विषयक इस दृष्टि के अनुसार वस्तु और मूल्य दो निरपेक्ष – आत्मपर्यन्त कोटियां नहीं रह जातीं। प्रस्तुत पुस्तक में यह बोध ही आगे विस्तृत और विवेचित हुआ है।. . . .

चेतना मनुष्य में आत्मचेतनता प्राप्त करती है और इससे मूल्य और सत् के नये आयाम प्रकट होते हैं। समाज, नैतिकता, कला, ज्ञान, आत्मा, स्वातंत्र्य आदि ऐसे ही आयाम हैं।. . . . ये सब चेतना की आत्म-सिद्धि के उपक्रम अथवा आत्म-व्यविहतत्व से उबरने के प्रयत्न के प्रतीक हैं।. . . . यह प्रतिपादन स्वतंत्र होने पर भी मूल बोध में औपनिषद-परंपरा के अन्तर्गत सहज ही रखा जा सकता है।(प्राक्कथन से)

अध्याय-सूची

1.तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्म-तत्त्वान्वेषण, 2.सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा, 3.मूल्य की वस्तुतंत्रता, 4.धर्म-नीति का तत्त्व, 5.धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप, 6.कला का अन्वेष्य-1, 7.कला का अन्वेष्य-2, 8.कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप, 9.ज्ञान और उसका अन्वेष्य, 10.आत्मान्वेषण-1, 11.आत्मान्वेषण-2, 12.स्वातंत्र्य, 13.(परिशिष्ट) लोक-साधन।

मूल्य – रुपये 200.00

लाठ सर्वोदय ट्रस्ट ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्-विमर्श

वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष

यशदेव शल्य

इस विमर्श को लेखक ने 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' कहा है। इसका अर्थ है कि इसमें वेदांत-सिद्धान्त का विवेचन या उस सिद्धान्त का नवीन विधि से प्रतिपादन नहीं है बल्कि उस अनुभव को बुद्ध्या समझने का प्रयत्न किया गया है जिसका औपनिषद ऋषियों ने प्रतिभया और सन्त कवियों ने अनुभूत्या साक्षात्कार किया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें उपनिषदों के मंत्रों का या सन्त कवियों की वाणी का विवेचन है। जिस प्रकार सन्तों के काव्य में न उपनिषद्-मंत्रों का काव्यात्मक आख्यान है और न औपनिषद साक्षात्कारों का काव्यात्मक अनुवचन बल्कि आत्मचेतना के भावनात्मक साक्षात्कार का स्वतंत्र उन्मेष है उसी प्रकार यहां लेखक ने आत्म-चेतना का ही बुद्ध्या अवगाहन करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए इस पुस्तक में न कोई सिद्धान्ताग्रह है न कोई सांप्रदायिकता बल्कि यथाप्राप्त अर्थों और तत्त्वों का मर्म समझने का प्रयत्न है।

अध्याय-सूची

1.दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य, 2.मनुष्य और जगत्, 3.जगद्-वासना, 4.जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त, 5.आत्म और अनात्म, 6.कला-सर्जन, 7.धर्म-दर्शन, 8.मनुष्य, समाज तथा इतिहास विषयक वैदान्तिक अवधारणा, 9.तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य - रुपये 175.00

(यह पुस्तक 1986 में मनुष्य और जगत् नाम से अशुद्ध मुद्रित और भ्रष्ट प्रकाशित पुस्तक का शुद्ध, संशोधित, पुनर्व्यवस्थित, सुन्दर और गुणानुरूप नामान्तरित संस्करण है।)

विषय-सूची

1.	धर्म-संकट	मुकुन्द लाठ	1
2.	जैसी करनी वैसी भरनी	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	23
3.	ह्यूम और सौत्रांतिक बौद्धों की कार्यकारणभाव विषयक मतभिन्नता	नारायणशास्त्री द्राविड़	31
4.	कुर्आन का स्वरूप और प्रामाण्य	हर्षनारायण	39
5.	भारतीय विद्याओं की यौक्तिक इतिहास-रचना की संभावना	वीरेन्द्र शेखावत	73
6.	प्रतिक्रियाएं : भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद	बी. कामेश्वर राव	77
7.	श्रुति और श्रुतिप्रामाण्य के प्रवाद : कुछ विचार	नारायणशास्त्री द्राविड़	80
८.	पुस्तक समीक्षा	बी.एन.एस.यादव	82

वार्षिक शुल्क

निजी रु. 30/-
संस्था रु. 50/-

आजीवन शुल्क

निजी रु. 300/-
संस्था रु. 3000/-

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुबन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015

यशदेव शल्य तथा मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान के लिए संपादित तथा सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, A – 95 सेक्टर 5, नोएडा 201301 में मुद्रित।